महाकाल और युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया

— श्रीराम शर्मा आचार्य

महाकाल
और
युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ३० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

दो शब्द !

पिछले दिनों से पूरे विश्व में एक विचित्र स्थिति देखने को मिल रही है । वह है—महा शक्तियों का आपसी टकराव । बड़े—बड़े राष्ट्रों की धन लिप्सा, युद्ध लिप्सा, शोषण की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ गयी है । यही कारण है कि उनके सुरक्षा बजट का अधिकांश भाग राष्ट्रनायकों की स्वार्थ पूर्ति में, मारक हथियारों की खोज—खरीद में व्यय हो रहा है । जिस प्रकार व्यक्ति को अपने किये का परिणाम भोगना पड़ता है, ठीक उसी तरह बड़ी शक्तियाँ व जातियाँ भी सदा से अपने भले—बुरे कार्यों का परिणाम सहती आयी हैं । ऊपरी चमक—दमक कुछ भी हो, मानवता युद्धोन्माद, प्रकृति विक्षोभों, प्रदूषण व विज्ञान की उपलब्धियों के साथ हस्तगत दुष्परिणामों के कारण त्रस्त है, दुःखी है ।

महाकाल की भूमिका ऐसे में सर्वोपरि है । महाकाल का अर्थ है——समय की सीमा से परे एक ऐसी अदृश्य—प्रचण्ड सत्ता जो सृष्टि का सुसंचालन करती है, दण्ड—व्यवस्था का निर्धारण करती है एवं जहाँ कहीं भी अराजकता, अनुशासनहीनता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ

सुव्यवस्था हेतु अपना सुदर्शन चक्र चलाती है । इसे अवतार प्रवाह भी कह सकते हैं, जो समय–समय पर प्रतिकूल परिस्थितियों से निपटने व सामान्य सतयुगी स्थिति लाने हेतु अवतरित होता रहा है । कैसा है आज के मानव का चिन्तन व किस प्रकार वह अपने विनाश की खाई स्वयं खोद रहा है ? साथ ही महाकाल उसके लिये किस प्रकार की कर्मफल व्यवस्था का विधान कर रहा है? इसी का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है । जो पाप से डरते हैं, वे संभवतः इस पुस्तक में व्यक्त विचारों को पढ़कर भावी विपत्तियों से स्वयं की रक्षा करेंगे एवं औरों को भी सन्मार्ग पर चलने को प्रवृत्त करेंगे ।

–लेखक

भावी विभीषिकायें और उनका प्रयोजन

बच्चे जब बहुत शरारत करते हैं, साधारण समझाने बुझाने से नहीं मानते, तो अध्यापकों को उनको दूसरी तरह सबक सिखलाना पड़ता है । माता-पिता भी ऐसे अवसरों पर अपने बच्चों के साथ कड़ाई से पेश आते हैं और कई बार वह कड़ाई ऐसी कठोर होती है जो उन्हें बहुत समय तक याद रहती और फिर वैसी शरारत करने से रोकती है ।

साधारणतया पाप, दुष्कर्म न करने के लिये धर्म शिक्षा देने और अनीति से मन विरत करने की प्रक्रिया चलती रहती है । उससे बहुत लोग सम्भलते सुधरते भी हैं, पर जो व्यक्ति उस पर ध्यान नहीं देते, उद्धत एवं उच्छृंखल आचरण करते हैं, अनीति बरतते और अपराध करते हैं उनके लिये राजकीय दण्ड व्यवस्था का प्रयोग किया जाता है । पुलिस उन्हें पकड़ती है, मुकदमा चलता है, न्यायाधीश भर्त्सनापूर्वक दण्ड व्यवस्था करता है, अपराधी को जेल ले जाया जाता है और वहाँ उसे कोड़े मारने से लेकर चक्की, कोल्हू में चलने तक, फाँसी से लेकर आजीवन कारावास तक की यातना दी जाती है । उद्दण्डता का यही उचित परिष्कार है । सुधार के अन्य साधारण तरीके जब निष्फल हो जाते हैं, तब दण्ड ही एक मात्र आधार रह जाता है । भगवान कृष्ण ने समझाने-बुझाने के सभी शान्तिमय तरीके प्रयोग कर देखे पर जब कौरव दल उद्दण्डता से विरत न हुआ तो आखिर महाभारत ही एक मात्र उपाय शेष रहा जो विवशता में उन्हें प्रयुक्त करना पड़ा । अगणित मनुष्य मारे गये, प्रचुर मात्रा में रक्तपात हुआ, धन-जन की अपार क्षति हुई, यह सम्भावना पहले से ही स्पष्ट थी, पर किया क्या जाय ? दुष्टता जब अनियन्त्रित हो जाती है तब उसे काबू में लाने के लिये और कुछ उपाय भी तो नहीं है ।

कुत्ते गली मुहल्ले में ही रहते हैं, इनके छोटे-मोटे अपराधों को लोग सहन भी कर लेते हैं, पर जब वे पागल होकर लोगों को अन्धा-धुन्ध काटते हैं, तब उन्हें प्राण दण्ड ही दिया जाता है । नरभक्षी बाघों से आखिर कैसे पिण्ड छुड़ाया जाय ? हाथी जब पागल होकर बेकाबू हो जाते

हैं और शान्ति के लिये खतरा बन जाते हैं, तब उन्हें निर्दयतापूर्वक वश में किया जाता है । मनुष्य के बारे में भी यही बात है । उसे एक नियत मर्यादा में रहना चाहिये । वासना और तृष्णा की ओर एक सीमा तक ही आकर्षित होना चाहिये । पूरी तरह स्वार्थ में ही नहीं डूब जाना चाहिये वरन् सार्वजनिक हित का भी, लोक-मंगल का भी ध्यान रखना चाहिये, यदि वह ऐसा नहीं करता और स्वार्थान्ध होकर नर-पशु की तरह, नर-पिशाच की तरह आचरण करने लगता है, तो उसे सुधारना हर कीमत पर आवश्यक हो जाता है । सीधी उँगली घी नहीं निकलता तो टेढ़ी उँगली करके प्रयोजन पूर्ण करना होता है । भगवान ऐसा ही करते हैं । लोक मानस को संतुलित रखने के लिये-जन साधारण को नीति और धर्म की मर्यादा ही में रहने वाले मार्ग-दर्शक देवदूत भेजते हैं-जब तक उनके प्रयासों से काम बनता रहता है, तब तक कठोरता नहीं बरतते । पर जब स्थिति बेकाबू हो जाती है, लोग धर्म और सदाचार को ताक पर उठा कर रख देते हैं और दल-बल की नीति अपनाकर, अनैतिक उद्धतता पर उद्दण्डतापूर्वक उतारू हो जाते हैं तो फिर उन्हें उचित शिक्षा देने के लिये ऐसे उपाय काम में लाने पड़ते हैं, जिन्हें भयानक, लोमहर्षक, निर्दय, निर्मम कहा जाता है । मंगलमय-शिव जब अनीति से क्षुब्ध होकर रौद्र रूप धारण करते हैं, तब दशों दिशाओं में हा-हाकार मच जाता है । उनके गले में पड़े हुए मृदल सर्प विष भरी फुसकारें हुँकारते हैं, त्रिशूल अगणितों के उदर विदीर्ण करता है, डमरू-नाद से दिशायें काँपती हैं, नर मुण्डों से उनकी श्रृंगार सज्जा सज जाती हैं । औघड़ दानी के खप्पर में रक्त भरा होता है । ताण्डव की हर थिरकन पर ज्वालायें उठती हैं और उस गगनचुम्बी दावानल से विश्व का कण-कण संतप्त हो उठता है । उस ज्वाला में मल आवरण के, दोष दुर्विकार के जलने-गलने का विधान बनता है और इस जाज्वल्यमान ज्वाल-माल में वह सब कुछ जल-जल कर नष्ट हो जाता है, जो अवांछनीय है, अनपयुक्त है, अनर्गल है, अशुभ है ।

कई बार इस विद्रूप विप्लव में गेहूँ के साथ घुन भी पिसते हैं । जो निर्दोष दीखते हैं, वे भी चपेट में आ जाते हैं, पर वस्तुतः वे निर्दोष दीखते हैं-होते नहीं । अपराध करना एक पाप है, पर उसे रोकने के लिये प्रयत्न

न करना, निरपेक्ष भाव से पड़े रहना भी निरपराध होने का चिन्ह नहीं है । अपने काम से काम, अपने मतलब से मतलब रखने की नीति यों भोली–भाली मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः बड़ी ही संकीर्ण, ओछी और असामाजिक है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसकी प्रगति शान्ति और सुरक्षा सामाजिक सुव्यवस्था पर निर्भर है । अस्तु उसे वैयक्तिक स्वार्थों और मानवतावादी आदर्शों की रक्षा के लिये, सामाजिक सुव्यवस्था के लिये समुचित योगदान करना चाहिये । अनीति और अव्यवस्था को रोकना चाहिये । चारों ओर फैले हुए पिछड़ेपन को हटाने के लिये पूरा–पूरा प्रयत्न करना चाहिये । यह उसका सामाजिक कर्तव्य है जो वैयक्तिक कर्तव्यों की तरह ही आवश्यक है । कोई विचारशील व्यक्ति यदि अपने पिछड़े और बिगड़े समाज को सुधारने के लिये प्रयत्न नहीं करता तो उसकी उपेक्षा भी एक दण्डनीय अपराध ही मानी जायगी । भगवान की दण्ड संहिता में असामाजिक प्रवृत्ति भी एक पाप है और जो उदासीन बन कर अपने आप में ही सीमित रहता है वह अपनी क्षुद्रता, संकीर्णता और स्वार्थपरता का दण्ड अन्य प्रकार के अपराधियों की तरह ही भोगता है ।

अपने मुहल्ले को आग लग रही हो और उसे बुझाने के लिये प्रयत्न न करके कोई व्यक्ति उसका चुपचाप खड़ा तमाशा देखे–एक व्यक्ति हत्या कर रहा हो और पास खड़ा व्यक्ति उसे रोकने–समझाने का प्रयास न करे–पड़ौस में चोरी–डकैती हो रही हो और यह सब देखते हुए भी सावधान न करे, तो उसकी भर्त्सना की जायगी और यह कानूनी न सही, नैतिक दृष्टि से ही सही, आखिर अपराध ही है । किसी के पास बन्दूक हो वह अपने मुहल्ले में होने वाली डकैती को रोकने के लिये फायर न करे, तो उस कायरता के उपलक्ष्य में उसकी बन्दूक जब्त की जा सकती है । स्वराज्य आन्दोलन में जिन गाँवों के आस–पास रेल की पटरी उखाड़ने, तार काटने, बीज गोदाम लूटने आदि की घटनायें होती थीं, उन गाँवों के ऊपर सामूहिक जुर्माना, करके सरकारी हानि का मुआवजा वसूल किया जाता था । सरकारी दलील यह थी कि हर नागरिक का कर्तव्य है कि वह सरकारी सम्पत्ति की सुरक्षा का पूरा–पूरा ध्यान रखे और कोई

अनुपयुक्त बात होने की सम्भावना हो, तो उसे रोके, अपराधियों को पकड़वाये । जहाँ के लोग ऐसा नहीं करते उन्हें दण्डनीय ही माना जायगा, भले ही व्यक्तिगत रूप से इन्होंने वह अपराध न किया हो ।

यही दलील भगवान की है । उन्होंने सामूहिक सुख-शान्ति और सुव्यवस्था की जिम्मेदारी हर मनुष्य के कन्धों पर सौंपी है । स्वयं अपराध करना ही काफी नहीं, दूसरों को अपराध करने से रोकना भी कर्तव्य है । स्वयं उन्नति करना, सदाचारी होना ही काफी नहीं, दूसरों को भी ऐसी ही सुविधा मिले इसके लिये प्रयत्नशील रहना भी आवश्यक है । जो इस ओर से उदासीन हैं वे वस्तुतः अपराधी न दीखते हुए भी अपराधी हैं । चोरी की तरह ही लापरवाही भी दण्डनीय है । गेहूँ के साथ घुन पिसने की कहावत ऐसे ही लोगों पर लागू होती है ।

अगले दिनों महाकाल का वह क्रिया-कलाप सामने आने वाला है जिसमें अगणित लोगों को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ेंगे । महायुद्ध, गृह-युद्ध, शीत-युद्ध, व्यक्ति-युद्ध, प्रकृति-युद्ध आदि अनेक प्रकार के क्लेश, संघर्ष, उद्वेग, अवरोध सामने आने वाले हैं । इनसे हर व्यक्ति को ऐसे झटके लगेंगे कि उसे विवशता अथवा स्वेच्छा से अपनी वर्तमान रीति-नीति बदलने के लिये विवश एवं बाध्य होना पड़ेगा । सफलता और उन्नति के नशे में मनुष्य झूमता रहता है, हर्षोल्लास और वैभव सुविधा के वातावरण में मनुष्य का केवल अहंकार ही बढ़ता है, अहंकारी को आत्म-निरीक्षण की फुर्सत कहाँ ? उसे सुधारने-समझाने का साहस कौन करे ? इस विपन्नता को महाकाल की रुद्रता ही दूर करती है । वह दुःख दुर्भाव का, शोक संताप का ऐसा डण्डा घुमाती है कि उसकी करारी चोटें खा-खाकर मनुष्य कराहता है । इस कराह के साथ-साथ ही उसे अपनी भूलों को खोजने तथा सुधारने की याद आती है । भूलों के रास्ते पर लाने का यह तरीका है तो निर्मम, पर साथ ही उसकी अमोघता भी स्वीकार करनी पड़ेगी । आग से तपाने पर सोने का मैल जल जाता है और उसका खरापन निखर आता है । लगता है महाकाल अगले दिनों सब करने जा रहे हैं । दृष्टि पसार कर निरीक्षण करने पर आज की परिस्थिति उसी का आभास देती है ।

सरकारों के माध्यम से लड़े जाने वाले एक और भयानक महायुद्ध की पूरी-पूरी सम्भावना विद्यमान है । इस युग के वैज्ञानिक युद्ध बड़े रोमांचकारी और व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करने वाले होते हैं । चिरकाल के सतत् प्रयत्नों से जिस तथाकथित सभ्यता और समृद्धि का निर्माण किया गया है, उसको ऐसी परिस्थितियों में भारी क्षति पहुँचती है । आज के युद्ध थोड़े मनुष्यों को मारकाट कर समाप्त नहीं हो जाते वरन् उनके साथ अगणित प्रकार की नई उलझनें, नई समस्यायें एवं नई विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं । तीसरे महायुद्ध के समय और उसके पश्चात् ऐसी अनेक पेचीदगियाँ पैदा हो सकती हैं, जो मनुष्य जाति की वर्तमान विचार शैली और क्रिया पद्धति को संभवतः उलट कर रख दें ।

साथ ही हमें यह भी जानना चाहिये कि महाकाल का युग निर्माण प्रत्यावर्तन केवल सरकारी और सेनाओं के माध्यम से लड़ी जाने वाली लड़ाई तक ही सीमित नहीं है वरन् उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है । वर्ग-संघर्ष और गृह-युद्ध की परिस्थितियाँ उग्र से उग्रतर होती चली जा रही हैं । हड़तालें, घिराव, घरना, कलम-बन्द आन्दोलन के पीछे केवल आर्थिक कारण ही नहीं, मनोभूमि का विक्षोभ भी है । इन आन्दोलनों का संचालन वे कर रहे हैं जो करोड़ों देशवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाजनक परिस्थितियों में हैं । भाषा, सम्प्रदाय, प्रान्त और छोटे-छोटे कारणों को लेकर अप्रत्यक्ष रूप से गृह-युद्ध जैसी, शीत-युद्ध जैसी स्थिति पैदा हो रही हैं । यह तो भारत की आन्तरिक स्थिति की बात हुई, वस्तुतः समस्त विश्व में यही वातावरण व्याप्त है । गरम युद्ध की दावानल रुकी तो शीत-युद्ध की आग हर जगह सुलगती दिखाई दे रही है । यह शीत युद्ध भी लोक-मानस को भयावह झटके देने के माध्यम हैं । उनसे परेशान हुआ लोक-मानस कोई शान्ति का मार्ग खोजने के लिये विवश होता है ।

प्रकृति के प्रकोप इन दिनों अप्रत्याशित नहीं हैं । मनुष्य की प्रकृति एवं वृत्ति इस अन्तरिक्ष-आकाश को-सूक्ष्म प्रकृति को प्रभावित करती हैं । सतयुग में सज्जनोचित प्रवृत्तियाँ जब अपनी प्रतिक्रिया आकाश में प्रवाहित करती हैं, तब उसका परिणाम विपुल वर्षा, प्रचुर धन-धान्य, परिपुष्ट जलवायु, अनुकूल उपलब्धियों, सुखद परिस्थितियों आदि घटनाओं

के रूप में सामने आता है । सतयुग में इस पृथ्वी पर सर्वत्र स्वर्णिम परिस्थितियाँ थीं । प्रकृति मानवीय सुख–साधना के अनुकूल चलती थी । ऋतुयें अपना ठीक काम करती थीं और धरती–आकाश सभी मंगलमय उपलब्धियाँ उत्पन्न करते थे । मनुष्य की चेतन प्रकृति का सृष्टि की जड़ प्रकृति के साथ अद्‌भुत सामंजस्य एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है । जब सज्जनता का बाहुल्य होगा तो सुख–समृद्धि की परिस्थितियाँ भी उत्पन्न होंगी । किन्तु यदि दुष्टता, दुर्बुद्धि और दुष्कर्मों का पलड़ा भारी रहा तो बाह्य प्रकृति पर भी उसकी बुरी प्रतिक्रिया होगी । अकाल, भूकम्प, बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि ईति–भीति का दौर बार–बार होता रहेगा, जिससे मनुष्य विविध–विधि त्रास पाते रहेंगे ।

लोगों के मनोविकार, मानसिक रोग आकाश में ऐसा रेडियो विकिरण फैलाते हैं, जिससे मन्द और तीव्र शारीरिक रोगों एवं आधि–व्याधि की अप्रत्याशित रूप से उत्पत्ति और वृद्धि होती है, जिनके कारण जनसाधारण को हर घड़ी असह्य कष्ट सहने पड़ते हैं । कभी–कभी तो वे रोग महामारी और सामूहिक विक्षोभ के रूप में व्यापक बन कर फूट पड़ते हैं और भारी विनाश उत्पन्न करते हैं ।

अपराधों की अभिवृद्धि भी एक भयानक विपत्ति है । उनके बढ़ने से समाज में एक प्रकार से गृह–युद्ध नहीं तो व्यक्ति–युद्ध की परिस्थिति अवश्य पैदा हो जाती है । सहयोग और सद्‌भाव के अभाव में न तो व्यक्तियों की उन्नति होती है न समाज ऊँचे उठते हैं । वरन् असहयोग और दुर्भाव की प्रतिक्रिया सभी की प्रगति में बाधा उत्पन्न करती है और जहाँ इस प्रकार की दुर्बुद्धि पनपती है तो सारे परिवार को ही ले डूबती है ।

इस प्रकार विभिन्न दिशाओं से पीड़ा और परेशानी मनुष्य को चोंथती है, तो उसे एक सर्वतोमुखी कष्ट प्रक्रिया का व्यथा भरा अनुभव होता है । परिवार में सभी प्रतिकूल, बच्चे अवज्ञाकारी, वयोवृद्ध दुराग्रही होने से घर नरक बन जाता है, शरीर में अंग–प्रत्यंगों में छुपे हुए रोग अहर्निशि उत्पीड़ित करते हैं, जिनके साथ अगणित अहसान किये थे, वे ही मर्मान्तक चोट पहुँचाते हैं । बढ़ी हुई तृष्णा एवं विलासिता के अनुरूप

आर्थिक साधन नहीं जुटते, मित्रों के रूप में विश्वासघाती भेड़िये ही चारों ओर घूमते नजर आते हैं, परिस्थितियाँ, चिन्ता, भय, शोक, निराशा, क्षोभ उद्वेग का वातावरण बनाये रहती हैं, तो मनुष्य का शरीर और मन एक प्रकार की आग में जलता रहता है और उस जलन से इतनी मर्मान्तक पीड़ा होती है कि मनुष्य अधपगलों की तरह ज्यों–त्यों करके अथवा आत्महत्या करके उस व्यथा–वेदना से पिण्ड छुड़ाते देखे जाते हैं। व्यक्तिगत और सामूहिक दुष्टता के दावानल में ऐसी जलन में तो तिल–तिल करके झुलसना पड़ता है। नरक इसे नहीं कहें तो और किसे कहें ?

युद्ध, विनाश, प्राकृतिक प्रकोपों की बात इससे अलग है, वे ही मनुष्य का सब कुछ उलट–पुलट कर रख देते हैं। रूस, चीन, यूगोस्लेविया, हंगरी, चैकोस्लेविया, पोलेण्ड, अलवानिया आदि देशों में जो साम्यवादी क्रांति हुई उसने करोड़ों व्यक्तियों को खून के आँसू बहाने के लिये और एक अप्रत्याशित परिस्थिति में जीवन–यापन करने के लिये, अनभ्यस्त ढाँचे में ढलने के लिये विवश कर दिया। यह परिवर्तन प्रकृति प्रकोपों से भी अधिक निर्मम थे। महाकाल का चक्र चला एवं देखते–देखते साम्यवाद से जुड़े अधिनायकवाद के खिलाफ क्रांति की एक लहर चली एवं हंगरी, पोलैण्ड, चैकोस्लेविया, रूमानिया जैसे राष्ट्रों में सभी को स्वतंत्र बोलने, रहने का अधिकार मिल गया है। यह संधि वेला की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

चूँकि मनुष्य जाति अभी भी अनीति का मार्ग न छोड़ने के अपने दुराग्रह पर अड़ी हुई है इसलिये प्रत्यक्ष दीखता है कि हमें अगले ही दिनों पुनः महाकाल के कोप–भयानक विपत्तियों में होकर गुजरना पड़ेगा। सम्भव है यह दण्ड विधान हमें दुर्जनता का पथ छोड़ कर समानता अपनाने के लिये प्रेरित करे। ऐसा हो सका तो इन भावी विभीषिकाओं को भी नवयुग निर्माण की प्रसव–पीड़ा मान कर मंगलमय ही कहा जायेगा।

महाकाल और उनका रौद्र रूप

सृजन के देवता—ब्रह्मा, पोषण के अधिष्ठाता—विष्णु और संहार के व्यवस्थापक भगवान शंकर हैं । त्रिदेवों की एक पूरक व्यवस्था के अन्तर्गत ही इस विश्व ब्रह्माण्ड का क्रिया—कलाप गतिशील हो रहा है । उत्पादन की प्रक्रिया प्राण धारियों तथा पदार्थों सहित चलते रहने से संसार की बढ़ोत्तरी होती है । जो उत्पन्न हुआ है उसका पोषण, अभिवर्धन होते रहने से प्रौढ़ता और परिपक्वता आती है और जो उपजा है, बढ़ा है, पुष्ट हुआ है वह अन्ततः जराजीर्ण होने पर अनुपयोगी बन जाने के कारण कूड़ा—करकट मात्र रह जाता है, तब उसकी अन्त्येष्टि भी अभीष्ट होती है । विनाश उत्पादन का आधार है । पुरानी फसल कटने के बाद ही नई फसल के बोने लगाने का क्रम बनता है । प्राणी की मृत्यु न हो तो उसे नया जन्म धारण करने का अवसर कैसे मिले ? सृष्टि का चक्र उत्पादन, अभिवर्धन और अवसान की क्रम—व्यवस्था पर घूम रहा है । अवसान न हो तो फिर उत्पादन के लिये नया पदार्थ कहाँ से आये ? विधाता ने सृष्टि के आदि में जितना पदार्थ सृजा था उसी की उलट—पुलट होती रहती है और उसी की हेराफेरी से इस संसार में हलचल दीखती रहती है । अस्तु उत्पादन जितना क्रान्तिमय है उतना ही अवसान भी । अवसान को अभिनव सृजन का शुभारम्भ कहा जाय तो यह सर्वथा उचित ही होगा ।

भगवान शंकर का निवास स्थान श्मशान है । वे गले में मुण्डमाला धारण करते हैं । मृत्यु के काल—पाश—-महासर्प उनके कण्ठ में, यज्ञोपवीत में लिपटे हुए हैं । तीक्ष्ण त्रिशूल उनका शस्त्र है । जब वे तीसरा नेत्र खोलते हैं, तब चारों ओर आग बरसती है । कुपित होकर वे तीसरे नेत्र से जिसे भी देखते हैं, वह जल कर भस्म हो जाता है । कामदेव की मृग मरीचिका को एक बार उनने पलक मारते—मारते जला कर भस्म कर दिया था । उनके वीरभद्र, भैरव एवं नन्दीगण कितने विकाराल हैं, इसकी कल्पना करने मात्र से रोमांच हो उठते हैं । जब प्रलय की आवश्यकता

अनिवार्य हो जाती है तब वे ताण्डव नृत्य करने खड़े होते हैं । उनके चरणों की थिरकन जैसे–जैसे गतिशील होती चलती है वैसे ही जराजीर्ण कूड़ा–करकट प्रभूत दावानल में जल–जल कर अन्तरिक्ष में विलय होता चला जाता है । पाप–पुरुष उनके चरणों में आ गिरता है । शिव–ताण्डव–नृत्य के चित्रों में एक उलटा उल्टे मुँह पड़ा हुआ भयभीत जीव दिखाई पड़ता है । उसी की पीठ पर नटराज के चरणों की थिरकन गतिशील होती है । यह पाप पुरुष मानव अन्तःकरण में निवास करने वाले पशु ही हैं, इसी की समय–समय पर असुर शब्द से भर्त्सना की जाती रहती है । ताण्डव नृत्य का प्रयोजन इस पाप पुरुष को परास्त करना उसकी माया मरीचिका को निरस्त करना ही है ।

पाप–पुरुष असुरत्व मानवीय अन्तःचेतना में अनेक छद्म रूप धारण कर प्रवेश करता रहता है और उसे संकीर्ण स्वार्थपरता के, वासना और तृष्णा के जाल–जंजाल में फँसाने के लिये विविध प्रलोभन एवं आकर्षण दिखाता रहता है । अविवेकी जीव इसी प्रलोभन में फँसता चला जाता है और अपनी ललक–लिप्साओं की पूर्ति के लिये एक से एक अनोखे प्रपंच रचता रहता है । पाप–पुरुष की प्रवंचना से जकड़ा हुआ प्राणी केवल वासना एवं तृष्णा की पूर्ति में ही रस लेता है, जीवनोद्देश्य एवं कर्तव्य धर्म की ओर तो आँख उठाकर देखने की भी इच्छा नहीं होती । इच्छा नहीं तो आवश्यकता कहाँ ? सुविधा कहाँ ? कामनाओं का इतना बड़ा पर्वत उनके सामने खड़ा होता है जिस पर चढ़ते–चढ़ते उसकी सारी शक्ति चुक जाती है, अभाव ही अभाव उसे चारों ओर दीखते हैं, जो उपलब्ध है वह अति न्यून दिखाई पड़ता है । ऐसी दशा में जल्दी–जल्दी बहुत कुछ समेट लेने, बहुत कुछ बर्तने, बहुत कुछ भोग लेने के लिये अनीति का मार्ग ही एक मात्र अवलम्बन शेष रह जाता है । पाप पुरुष के जाल–जंजाल में जकड़ा हुआ जीव अनीति ही सोचता है । अनीति ही बर्तता है । मर्यादाओं का पालन करने में उसे दरिद्रता पल्ले बँधती दीखती है । संचय रूखा और नीरस लगता है । अतएव उसे संचय और उपभोग की दिशा में दौड़ने में ही बुद्धिमानी प्रतीत होती है । इस घुड़ दौड़ में कर्तव्य और आदर्श पिछड़ जाते हैं, अनीति ही एक मात्र सहचरी बन जाती है ।

इस दयनीय दुर्दशा में पड़े हुए जीवधारी का उद्बोधन–प्रबोधन करने समय–समय पर देवदूत, ऋषि–मनीषी, महापुरुष और अवतारी आते रहते हैं । उनके द्वारा समय–समय पर सामयिक मरहम पट्टी भी होती रहती है । मरम्मत से कुछ काम चल जाता है । प्रभावशाली धर्मोपदेष्टा अपने समय में एक सामयिक परिवर्तन भी उत्पन्न कर देते हैं । उनके प्रयास कुछ सफल भी होते हैं, पर अन्ततः एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब उस जराजीर्ण स्थिति को तोड़–फोड़ कर पुनः निर्माण का एक अभिनव सूत्रपात नये सिरे से करना पड़ता है । क्योंकि पाप पुरुष के चंगुल में फँसा हुआ व्यक्ति जब उद्बोधनों का भी कोई प्रभाव ग्रहण नहीं करता मनोभूमि चिकने घड़े की तरह हो जाती है, एक–दूसरे को उपदेश देने की विडम्बना रचते हैं और धर्माडम्बर का ढोंग रचने की कला में इतनी प्रवीणता बढ़ जाती है कि सुधारवाद के सारे प्रयत्न उस दम्भ–प्रवाह में तिनके की तरह उड़ते चले जाते हैं । धर्म–ध्वजी दीखने वाले व्यक्ति ही जब धर्म–द्रोह पर उतारू हों तब समझना चाहिये कि अब सुधार प्रयत्नों का अवसर चला गया, अब मरहमपट्टी की स्थिति भी नहीं रही । इस विष–व्रण के लिये अब 'मेजर आपेरशन' की, भयानक चीर–फाड़ की अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है ।

बाह्य दृष्टि से आज का संसार प्रचीनकाल की अपेक्षा अधिक समृद्ध, अधिक साधन सम्पन्न और अधिक समर्थ है । लगता है हम प्रगति के पथ पर तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं । यह भौतिक मूल्यांकन सही भी हो सकता है, पर आत्मिक क्षेत्र में स्थिति बिलकुल उल्टी है । भावनाओं में से उत्कृष्टता और आदर्शवादिता उठती–सी चली जा रही है । आदर्श चरित्र के व्यक्ति जिनका भीतरी और बाहरी स्वरूप एक हो, ढूँढ़े नहीं मिलते । परस्पर आत्मीयता, सहयोग, सेवा और उदारता की रीति–नीति बरतने वाले लोग दिखाई नहीं पड़ते । आन्तरिक दरिद्रता इतनी व्यापक हो चली है कि किसी भी भयानक दुर्भिक्ष से उसकी विभीषिका लाखों गुनी अधिक है । यही मानव जाति का, संसार का, सबसे बड़ा दुर्भाग्य है । इसी कमी के कारण साधन सामग्री की दृष्टि से यह समुन्नत समय आज नरक की आग में जल रहा है, जबकि इतनी साधन सम्पन्नता मिलने पर सर्वत्र स्वर्गीय वातावरण परिलक्षित होना चाहिये था ।

इस अभाव की पूर्ति पुनर्निर्माण से ही सम्भव है । पीतल के बर्तन टूट–फूट जाते हैं, तब उन्हें गला कर दुबारा नया ढाला जाता है । प्रेस के टाइप जब घिस जाते हैं तब उन्हें फाउण्ड्री में गलने और नये सिरे से ढलने के लिये भेज दिया जाता है । मनुष्यों के अन्तःकरण भी अब टूटे बर्तनों और घिसे टाइपों की तरह दम्भी होने के कारण बेकार हो गये हैं । अब उन्हें नये सिरे से गलना और ढलना पड़ेगा । गलाने और ढालने की फैक्टरियों में तेजी से आग की भट्टी जलती रहती है । उन रद्दी धातुओं का प्रथम संस्कार उन्हीं से होता है । उनकी कठोरता को कोमलता में बदलने के लिये सबसे प्रथम अग्नि संस्कार का ही आयोजन होता है । धातुओं के ढालने की छोटी भट्टियाँ मनुष्यों द्वारा बनाई जा सकती हैं, पर करोड़ों अरबों हृदयहीन घिसे–टूटे मनुष्यों को उनके वास्तविक और उपयोगी स्वरूप में परिवर्तित करने के लिये जो भट्टी जलाई जायेगी उसके लिये बहुत बड़ी, बहुत व्यापक व्यवस्था होगी । महाकाल इसी की विधि व्यवस्था में इन दिनों लगा हुआ है ।

महाप्रलय का अन्तिम ताण्डव नृत्य तब होता है, जब पंचतत्वों से बनी प्रकृति जराजीर्ण हो जाती है । तत्व बूढ़े होने के कारण अपना काम ठीक तरह समयानुसार नहीं कर पाते । ऋतुयें समय पर नहीं आतीं और उत्पादन, पोषण, विनाश की क्रम व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है । धरती की उत्पादन और धारणा की शक्ति बीत जाती और यह ग्रह–नक्षत्र अपना काम नियत समय में पूरा करने में असमर्थता प्रकट करते हैं । ऐसी स्थिति में महाकाल का अन्तिम ताण्डव नृत्य इस ब्रह्माण्ड को चूर्ण–विचूर्ण कर छितरा–बिखरा देने वाली महाज्वालायें प्रचण्ड करता है और नयी सृष्टि के सृजन की भूमिका सम्पादित करने के लिये महाकाली–फिर अपने प्रसव प्रजनन की तैयारी में लग जाती है । कालरात्रि की उस महानिशा का–महारात्रि का बड़ा श्रृंगार पूर्ण वर्णन पुराणों में मिलता है । महानिशा समाप्त होने पर फिर सृष्टि नये सिरे से उत्पन्न होती है ।

यह महाप्रलय करोड़ों वर्ष बाद होती है । पर युग परिवर्तन के अवसर पर खण्ड प्रलय जैसा एक भयानक विस्फोट प्रायः होता रहता

है । यह महाकाल के खण्ड नर्तन हैं, यों कहा इन्हें भी ताण्डव नृत्य ही जाता है । जब मानवीय मनोभूमि अत्यधिक दूषित होकर उस स्तर पर पहुँच जाती है कि सुधारक के सामान्य क्रिया-कलाप निरर्थक सिद्ध होने लगें तो महाकाल को अपने तीव्र अस्त्रों का ही प्रयोग करना पड़ता है । प्रायः ऐसी ही परिस्थितियों में जन-समाज को कड़े दण्ड देने के लिये लोमहर्षक प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । इस भयानक क्रूर कर्म को करने के लिये अवसान के देवता-शंकर-जब रौद्र रूप धारण करते हैं और उथल-पुथल की रक्त-रंजित क्रिया-पद्धति अपनाते हैं तब उन्हें रुद्र कहते हैं । इस कल्प के आरम्भ से लेकर अब तक महाकाल को ग्यारह बार रुद्र रूप धारण करना पड़ा है । पुराणों में एकादश रुद्रों के नाम और उनके चरित्रों का विस्तृत वर्णन है ।

त्रिपुरारी महाकाल द्वारा तीन महादैत्यों का उन्मूलन

महाकाल शंकर का एक नाम त्रिपुरारि भी है । प्राचीनकाल में तीन दुर्दान्त दैत्य जन्मे थे, तीनों सगे भाई थे । नाम तो उनके अलग-अलग थे, पर उनने माया नगरी जैसे जादू भरे तीन नगर बसाये थे । इन तीन पुरों में ही उनने सारी दुनियाँ के लोगों को समेट कर बसा लिया था । माया नगरी का हर निवासी उन दैत्यों के प्रभाव में था । वे जैसा कहते वैसा ही वे सोचते और उन्हें के निर्देशों पर कार्य करते । इससे संसार के समस्त निवासी आसुरी माया से भ्रमित हो गये, धर्म का लोप हो गया और अधर्म की विजय दुन्दुभी बजने लगी । असुरता का वैभव चमका और तीनों पुरियाँ बड़ी समृद्धिशाली दीखने लगीं पर भीतर ही भीतर सब कुछ खोखला हो गया । उन नगरों के निवासी नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से, शोक-सन्तापों से ग्रसित होकर नारकीय जीवन व्यतीत करने लगे । सर्वत्र हाहाकार मच गया ।

धर्म ने प्रजापति से गुहार की, प्रजापति ने महाकाल को इसके लिये नियोजित किया क्योंकि वे ही परिवर्तनों के अधिष्ठाता देवता हैं । धर्म की पूरी बात भगवान् शंकर ने सुनी और स्थिति को समझा । तीन पुर बसाने

वाले वे तीन दैत्य यद्यपि अलग–अलग हैं, पर वस्तुतः वे परस्पर पूर्णतया घुले–मिले हैं । उनके तीन पुर भी अलग–अलग दिखाई पड़ते हैं, पर वस्तुतः वे परस्पर एक–दूसरे का पोषण अभिवर्धन करते हैं । यह तीनों दैत्य साधारण रीति से नहीं मर सकते । उन्हें अभय वरदान यह मिला हुआ है कि जब वे मरेंगे तब एक साथ ही मरेंगे और एक ही अस्त्र से मरेंगे । वे दैत्य बड़े चतुर थे इसलिये उन्होंने ऐसा वरदान माँगा था । वे जानते थे कि हममें से एक को भी परास्त करना सहज नहीं, फिर तीनों को एक साथ चुनौती देने का तो साहस ही कौन करेगा । इस पर भी कोई लड़ने आये तो फिर उसके पास ऐसा शस्त्र नहीं हो सकता जो तीनों को एक साथ, एक ही बार में एक ही क्षण मारे । यह असम्भव जैसा कार्य नहीं कर सकेगा, इसलिये दैत्य होने के कारण अमर न हो सकने पर भी एक प्रकार से अमर ही बने रहेंगे ।

भगवान शिव ने स्थिति पर विचार किया और उनने इन दैत्यों से समस्त मानवता का उद्धार करने का उपाय खोज निकाला । उन्होंने जो त्रिशूल बनाया था तो एक ही शस्त्र पर उसके तीन मुख होने के कारण यह तीन दैत्यों का एक साथ संहार कर सकता था । महाकाल ने पूरे वेग से त्रिशूल का प्रहार किया और त्रिपुर नामक तीनों दैत्यों की शक्ति को विदीर्ण कर डाला । धर्म की जीत हुई, अधर्म हारा । त्रिपुरों की तीनों माया नगरियों के मोहान्ध निवासियों को मुक्ति मिली । वे विवेक पूर्वक स्वतंत्र बुद्धि से सोचने और जो श्रेयस्कर दीखे उसे करने में लग गये । इस प्रकार मानवता पर आया हुआ एक महान् संकट टल गया । भगवान् महाकाल की इस विजय का सर्वत्र अभिवादन हुआ और इस महती विजय के उपलक्ष्य में उन्हें त्रिपुरारी कहा जाने लगा ।

त्रिपुरों की तीन पुरी ये हैं–(१) लोभ, (२) मोह, (३) अहं । यह तीनों आपस में जुड़े हुए हैं । धन को लक्ष्य बनाकर सोचने, करने और जीवित रहने वाला व्यक्ति नीति–अनीति का विचार किये बिना, जीवन के महान् उद्देश्यों को भुलाकर केवल मात्र आपाधापी में आवश्यक–अनावश्यक उपार्जन–संग्रह में लगा रहता है । यह जानते हुए भी कि शरीर निर्वाह के लिये जितना आवश्यक है, उसके अतिरिक्त यह बचा हुआ

सारा संग्रह तथाकथित बेटे-पोतों या सम्बन्धी कुटुम्बियों द्वारा लूट लिया जाता है, मनुष्य समझता नहीं, बदलता नहीं । लोभ की माया-मरीचिका उसके विवेक का अपहरण कर लेती है और जाल में फँसे हुए पक्षी की तरह उसी दिशा में घिसटता जाता है, जिसमें कि वधिक उसे खींचना चाहता है । लोभ की तृष्णा आज भी अधिकांश लोगों पर छाई हुई है । भले ही परिस्थितियाँ अमीर न बनने दें, पर सोचते सब वही हैं, करते सब वहीं हैं । कैसी खेदजनक विडम्बना है कि मनुष्य मानव जीवन की महत्ता, उसके उद्देश्य और उपयोग को पूर्णतया भूल जाता है उसकी ओर से विमुख बना रहता है और अनावश्यक अर्थ तृष्णा की ललक में मूल्यवान जीवन समाप्त कर देता है । जाते समय केवल पाप की गठरी ही सिर पर होती है । यह एक आसुरी सम्मोहन ही है जिसके जाल में विवेकशील समझा जाने वाला मानव प्राणी इस बुरी तरह जकड़ा हुआ है कि जो करना चाहिये था, वह कर नहीं पाता, जो नहीं करना चाहिये था उसे करने में लगा रहता है । त्रिपुर असुरों की जिस माया ने प्राचीन काल में मनुष्यों को सम्मोहित कर अपनी नगरी में बसा रखा था, आज भी लगभग वैसी ही स्थिति है ।

त्रिपुर दैत्यों का दूसरा पुर है-व्यामोह । इन्द्रियाँ जो जीवन को सुसंचालित करने में रथ चक्र मात्र हैं, आज विलासिता एवं उपभोग का आधार बन गयी हैं । जिह्वा का चटोरपन और कामेन्द्रिय की लोलुपता हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को चौपट करके रखे दे रही है । जिह्वा का चटोरपन, व्यक्ति और परिवार का जितना नाश करता है, कामलोलुपता उससे हजारों लाखों गुनी क्षति पहुँचाती है । गृहस्थ जीवन की शान्ति, सन्तान की शुचिता, संस्कृति और सामाजिक सुव्यवस्था सभी पर इस दुष्प्रवृत्ति का घातक प्रभाव पड़ता है । मानसिक व्यभिचार तो शारीरिक विलासिता से भी अधिक व्यापक और भयावह बन चला है, उसने भावनात्मक आदर्शवादिता और उत्कृष्टता को एक प्रकार से चौपट करके ही रख दिया है । विलासिता का यह व्यामोह जितना घातक है, उतना ही हमें प्राणप्रिय लगा करता है, उसे त्रिपुर असुरों की माया-मरीचिका कहें तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी ।

व्यामोह का दूसरा रूप है छोटे से घर में रहने वाले या जिनसे रक्त सम्बन्ध है, उन थोड़े से व्यक्तियों को ही अपना मानना और उन्हीं के लिये आजीवन मरते–खपते रहना । लोग यह भूल ही गये हैं कि संसार भी हमारा कुटुम्ब है और संसार के पिछड़े और असमर्थ लोगों को उठाना भी हमारा एक कर्तव्य है । देश, धर्म, समाज, संस्कृति की सेवा के लिये मनुष्य जीवन मिला है, उसका किसी को ध्यान नहीं । जो सोचता है अपने बेटे–पोतों की ही बात सोचता है । भलें ही वे समर्थ और स्वावलम्बी हों पर कमाई उन्हीं के लिये की जाती है । जोड़–समेट कर दिया उन्हीं को जाता है । जिनकी सन्तानें नहीं हैं वे प्यासे से फिरते हैं और अपना नहीं तो पराया गोद धरते हैं । इस व्यामोह ने मूल्यवान व्यक्तियों का सत्यानाश करके रख दिया, वे बेटे–पोतों से ऊपर उठकर, देश–धर्म की कुछ बात सोचते, तो न जाने क्या–क्या कर सकते थे ? पर संकीर्णता का व्यामोह उनके गले में फाँसी के फेरे की तरह काल नाग बनकर लिपट रहा है । बेटे–पोतों को कमाई खिलाकर उद्धत बनाने के निमित्त ही वे बने रहे, जो करना था उसके लिये उनमें उदारता जग ही न सकी । संकीर्णता के बन्धन तोड़कर वे एक कदम आगे न सोच सके, न बढ़ सके । त्रिपुर दैत्यों की माया मरीचिका से सम्मोहित बिचारे निरीह प्राणी आखिर करें भी क्या ? त्रिपुरों ने उनकी स्वतंत्रता चेतना तो नष्ट कर दी है, अब वे वही सोचते, वही करते हैं, जो वे दुर्दान्त दैत्य उन्हें सोचने करने को विवश करते हैं । आज नजर पसार कर देखते हैं, तो स्थिति वही प्रतीत होती है, जब धर्म हा–हाकार करने लगा था और अपनी प्राण रक्षा के लिये प्रजापति से जा पुकारा था ।

त्रिपुरों का तीसरा पुर है–अहंकार । मिट्टी से पैदा हुआ, मिट्टी में मिलने वाला–मल, मूत्र, और हाड़–मांस का ढेर–कीड़े–मकोड़े जैसा तुच्छ मानव प्राणी जब अपनी भौतिक उपलब्धियों पर इतराता है, तब हँसी रोके नहीं रुकती । रूप–लावण्य की, वेश–विन्यास की, श्रृंगार–प्रसाधनों की उसे ऐसी धुन सवार है कि न जाने क्या बनना चाहता है, न जाने क्या देखना या दिखाना चाहता है । हर घड़ी यह अभागा नर–कंकाल इसी उधेड़–बुन में लगा रहता है कि अपनी वस्तुस्थिति को छिपाकर दूसरों की आँखों

को धोखे में डालकर कैसे से कैसा दीखने लगूँ । शरीर रक्षा पर जितना समय और धन खर्च किया जाता है उससे दूना–चौगुना यह दुनियाँ श्रृंगार–सज्जा पर व्यय कर रही है, फिर भी जैसी कुरूप थी वैसी की वैसी बनी हुई है ।

व्यावहार, बोल–चाल, शान–शौकत, ठाट–बाट, सज–धज के स्वाँग और अमीरी के चोचले देखकर लगता है नाचीज–सा आदमी कहीं पागल तो नहीं हो गया है । जीवन की आवश्यकतायें थोड़ी–सी हैं, जो बड़ी आसानी से पूरी की जा सकती हैं, पर ठाठ तो सुरसा के मुँह की तरह है, जिसकी भूख कभी बुझती ही नहीं । जो भी कमाई है वह कम पड़ जाती है और विलासिता के साधन जुटाने में हर समय आर्थिक तंगी बनी रहती है । व्याह–शादियों में अमीरों जैसा भौंड़ा स्वांग गरीब लोग ही बनाते हैं, उसे देखकर हँसी रोके नहीं रुकती । अपनी छोटी–सी हस्ती की सफलता और उपलब्धियों का लोग ऐसा ओछा और भौंड़ा विज्ञापन करते हैं कि कई बार यह शक होने लगता है कि आदमी अभी जंगली युग से आगे बढ़ पाया है या नहीं ? सभ्य बनने की उसकी डींग कहीं आत्म प्रवंचना ही तो नहीं है ? एक–दूसरे के साथ इतराकर बड़प्पन का रौब गाँठते हुए उद्धत, उच्छृंखल, अवज्ञा और तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करते हैं । उच्छृंखलता, उद्दण्डता, गुण्डागर्दी बरतते हैं, शोषण, उत्पीड़न, छल, द्वेष और अनाचार की रीतिनीति अपनाते हैं, तब यही कहा जा सकता है कि अभी भी हम नर–पशु एवं नर–पिशाच ही बने हुए हैं । अहंकार मनुष्य का निकृष्टतम कमीनापन है । जो जितना उद्धत और अशिष्ट है, उच्छृंखल और अनियंत्रित है, ढोंगी और शेखीखोर है, उसे उतना ही छोटा, हेय और नीच समझना चाहिये । दुर्भाग्य से यह अहंकार आज मानव जाति पर इस बुरी तरह आच्छादित है कि उसकी मूल सत्ता एवं आत्मा का स्वरूप ही उलट गया प्रतीत होता है । तथाकथित 'स्वाभिमान' के नाम पर लोग कितने अशिष्ट, कृतघ्न और ओछे बनते जा रहे हैं, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि यह युग अहंकार की दानवी छाया–माया से पूरी तरह आच्छादित हो चला है ।

त्रिपुर दैत्यों ने अपनी माया नगरी में लोभ, व्यामोह और अहंकार

की सत्ता स्थापित की और उनमें बसे हुए सभी लोगों को सम्मोहित कर कठपुतली की तरह अपने इशारों पर नचाया था । लगता है कि वर्तमान समय में भी वही स्थिति चल रही है । अशिक्षित असभ्य लोगों से लेकर सुशिक्षित तथाकथित नेता, धर्मोपदेशक, कलाकार, विद्वान्, ज्ञानी, गुणी सभी एक ही दिशा में चल रहे हैं । त्रिदोष जनित सन्निपात से हर कोई बहकी-बहकी बातें कर रहा है और उद्धत आचरण की कुचेष्टा बरत रहा है । दुष्परिणाम सामने है । व्यक्तिगत, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक हर क्षेत्र में घोर अव्यवस्था फैल रही है । जिधर भी दृष्टि पसारी जाय उधर अनुपयुक्त, अनावश्यक एवं अवांछनीय के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं । ऐसी विकृत एवं विपन्न अवस्था में विद्रोह, विस्फोट, विक्षोभ, अशान्ति, उद्वेग, अव्यवस्था, असन्तोष एवं शोक-संताप एवं दुःख-दारिद्र की परिस्थितियाँ ही विनिर्मित हो सकती हैं । आज यही सब कुछ प्रस्तुत है । व्यक्ति की आत्मा मरणासन्न स्थिति में आ पहुँची है और समाज सर्वनाश के कगार पर खड़ा थर-थर काँप रहा है ।

धर्म फिर हा-हाकार कर उठा है । मानवता फिर चीत्कार करने लगी है । धरती पर फिर पाप का बोझ असह्य हो उठा है । सबने मिलकर प्रजापति से पुकार की है कि हे विधाता ! इस दुर्विचार को सुधारो । प्रजापति महाकाल को निर्देश कर चुके हैं । वे स्थिति को देख-समझ रहे हैं, और इसी निश्चय-निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लाखों वर्ष पूर्व अतीत काल में त्रिपुरों ने जो उपद्रव मचाया था, वे अब पिछला पाठ भूलकर उसी की पुनरावृत्ति कर रहे हैं । उन्होंने अपनी माया-मरीचिका में फिर से इस संसार को जकड़ लिया है और पूर्व काल की तरह इस स्वर्ग सुन्दर वसुन्धरा को शोक-सन्ताप में निमग्न कर दिया है । पृथ्वी को उबारने के लिये वे अपने त्रिशूल पर फिर से धार धर रहे हैं । भौतिक संहार तो होते ही हैं साथ ही उनके पीछे मूल प्रयोजन भावनात्मक, वैयक्तिक, मानसिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से मानवीय प्रवृत्तियों को उस दिशा में मोड़ देना है, जिससे लोक-मानस के लिये सत् का, शिव का, आनन्द का अमृतोपम रसास्वादन कर सकना सम्भव हो सके ।

त्रिपुरारि महाकाल ने अतीत में भी विविध माया–मरीचिका को अपने (१) शिक्षण (२) संहार (३) निर्माण के त्रिशूल से तोड़–फोड़कर विदीर्ण किया था, अब वे फिर उसी की पुनरावृत्ति करने वाले हैं। धर्म जीतने वाला है, अधर्म हारने वाला है। लोभ, व्यामोह और अहंकार के काल पाशों से मानवता को पुनः मुक्ति मिलने वाली है। संहार की आग में तपा हुआ मनुष्य अगले ही दिनों पश्चात्ताप, संयम और नम्रता का पाठ पढ़कर सज्जनोचित प्रवृत्तियाँ अपनाने वाला है। वह शुभ दिन शीघ्र लाने वाले त्रिपुरारी–महाकाल आपकी जय हो! विजय हो!! ◉

शिव का तृतीय नेत्रोन्मीलन और काम–कौतुक की समाप्ति

एक बार उद्धत 'काम' देवता को ऊत सूझी। लोग शान्ति से दिन गुजार रहे थे। परिश्रम से कमाते, स्नेह–सहयोग से रहते, हँसी–खुशी के साथ सन्तोष का जीवन बिताते थे। काम देवता से यह सहन न हो सका। उसने लोगों को परेशान करने की ठानी और अपनी माया चारों ओर फैलादी।

काम देवता लोगों के मनों में घुस गया और हर एक के मन में असीम कामनायें भड़का दीं। लोग अपनी थोड़ी–सी आवश्यकतायें, थोड़े से श्रम से पूरा कर लिया करते थे और शेष समय लोक–मंगल में लगाते थे, इससे सभी को प्रसन्नता थी और सभी को शान्ति। पर जब कामनायें भड़कीं तो लोग उद्विग्न हो उठे। किसी को धन संग्रह की, तो किसी को वासनाओं की, किसी को पदवी पाने की इच्छा भड़की। पहले यह ललक धीमी थी, पर जब सभी की प्रवृत्तियाँ उस ओर बह निकलीं तो एक–दूसरे में प्रतिद्वन्दिता ठन गयी। सभी अपने साथियों से आगे बढ़ जाने को आतुर हो उठे। कौन ज्यादा धन जमा करे, कौन ज्यादा विलासिता का आनन्द लूटे, कौन कितना अपनी अहंता का आतंक दूसरों पर प्रदर्शित करे, इस प्रतिस्पर्द्धा में ऐसी भगदड़ मची कि लोगों ने औचित्य का रास्ता छोड़ दिया और जैसे बने वैसे अधिकार, सफलता प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठे।

इस प्रतिद्वन्दिता में परस्पर संघर्ष छिड़ा मन उत्तेजित हुआ, ईर्ष्या

भड़की, द्वेष बढ़ा । उत्पीड़न और शोषण की घटनायें बढ़ीं, तो प्रतिरोध सामने आया और फिर प्रतिशोध की आग धधकने लगी । इससे विश्वासी–अविश्वासी, मित्र–अमित्र और सज्जन–दम्भी बन गये । बुद्धिमानों की बुद्धि कबूतर फँसाने के जाल बुनने में लग गयी । पीड़ितों के क्रन्दन और उत्पीड़कों के अट्टहास से दिशायें गूँजने लगीं, उनकी प्रतिध्वनि ने आतंक फैला दिया । हर कोई भयभीत हो उठा, हर कोई सशंकित । मानवीय सम्मिलित सहयोग से जो आनन्द उल्लास मिलता था, प्रगति का जो पथ प्रशस्त होता था, उसके सारे द्वार अवरुद्ध हो गये । हर कोई अपनी चाल चलने और अपनी गोट हरी करने की शतरंज में इतना निमग्न हुआ कि और सब आवश्यक बातें उपेक्षा एवं विस्मृति के गर्त में गिरकर विलीन हो गयीं । जीवन निरापद ही नहीं भार–भूत भी हो गया ।

काम देवता को इतने से ही सन्तोष न हुआ । उसने इसी दुर्दशा में पड़े रहने और उससे मुक्त होने के लिये आतुर न हो सकने की भी माया रच दी । विलासिता के एक से बढ़ कर एक साधन–प्रसाधन उत्पन्न कर दिये । इन्द्रिय–भोगों को भड़काने वाली इतनी सामग्री रच दी कि क्या मस्तिष्क और क्या शरीर सर्वत्र उसी की माँग और पुकार बढ़ने लगी । बुद्धि ने विलासिता को जीवन का सर्वोपरि आनन्द माना और शरीर ने उसी के प्रसाधन जुटाने में संलग्न रहने की अनुमति दे दी । सजावट, शोभा, श्रृंगार, शान, वासना, विलास, क्रीड़ा–कौतुक का आकर्षण इतना बढ़ा कि कामना पीड़ित बुभुक्षितों की तरह टूट पड़े । लगने लगा अब विलासिता और कामनाओं की पूर्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य रह गयी है । वासना और तृष्णा की पूर्ति के अतिरिक्त और कोई दिशा ही मनुष्य के पास शेष न रही ।

कामनाओं और वासनाओं द्वारा विविध बन्धनों में बँधते हुए प्राणी की आत्मा इस दुर्दशा में पड़ी छटपटाने लगी । भगवान की पुनीत कृति विश्व वसुधा अपने गर्व–गौरव से पद–दलित होकर जिस निकृष्ट और निर्लज्ज स्थिति पर पहुँचा दी गयी, उससे उसका मस्तक लज्जा से नत हो गया । मनुष्यता ने एक लम्बी उसाँस भर कर कहा–हाय ! क्या इसी दयनीय स्थिति में पहुँचाने के लिये विधाता ने बनाया था ।

काम देवता अपने इस कौतुक पर बड़ा प्रसन्न हो रहा था । उसने सभी को अपने बन्धन में बाँध लिया । सब को जीत लिया । अब किसे जीता जाय ? सोचा कि इस दुनियाँ का एक नियंत्रक भी है, अब उसी पर चढ़ाई करनी चाहिये । सो वही उसने किया भी । भगवान का स्वरूप न्याय और व्यवस्था की स्थिति बनाये रखने के लिये संयम और तपश्चर्या की प्रेरणा करने वाला अनादि काल से चला आता था । काम देवता ने उसी को बदलने की माया रच दी ।

भगवान का स्वरूप बदला, भक्तों ने उनकी भी दुर्दशा कर डाली जैसी संसार के लोगों की थी । उन्हें वासना और विलास का प्रतीक प्रतिनिधि बना दिया । श्रृंगार, रास, हास, विलास, भोग, उपभोग के माध्यम ही भगवान की पूजा कहलाने लगे । तप और त्याग, संयम और सेवा जो ईश्वर भक्तों के प्रमुख पूजा विधान थे, वे न जाने कहाँ तिरोहित हो गये और भगवान के चरित्र की चर्चा ऐसी होने लगी मानो वे भी काम पीड़ित एक साधारण विलासी, धन-वैभव में प्रतिष्ठा अनुभव करने वाले और प्रशंसा का पुल बाँधने वालों से प्रसन्न रहने वाले हैं । जो उनकी दुर्बलताओं का समर्थन करे उसकी पाप-दण्ड से छूट और कुपात्र होते हुए भी सत्पात्रों को मिलने वाले लाभ देने वाले अन्यायी के रूप चित्रित किया जाने लगा । भक्ति का यही स्वरूप प्रचलित हो गया तो भगवान की आत्मा कराह उठी । हाय मुझ भगवान् की इस दुष्ट काम देवता ने क्या दुर्गति कर दी ।

कराह दोनों ही रहे थे, आत्मा भी, परमात्मा भी । मानव भी और विश्व-मानव भी । काम देवता का माया भरा जाल-जंजाल जितना आकर्षक था उतना ही दारुण भी । उसे न पकड़े रहते बनता था और न छोड़ते । स्थिति असह्य हो उठी तो धरती आसमान की आत्मायें मिलकर भगवान् शिव के पास पहुँची और उनसे विनय करते हुए बोलीं-महाकाल ! विश्व की यह दयनीय दुर्दशा अब असह्य है । धरती पर विलासिता ही जीवित रहे और सभी उसकी विशेषतायें, सभी सुन्दरतायें समाप्त हो जायें यह उचित नहीं । सृष्टि का मुकटमणि-परमेश्वर का उत्तराधिकारी मनुष्य केवल तृष्णाओं की पूर्ति के लिये अपने पुण्य अवतरण को कलंकित करता

रहे यह अवांछनीय है । इस असह्य स्थिति को आप ही बदल सकते हैं, सो आप ही बदलें ।

भगवान् शंकर ने ध्यान मग्न होकर देखा तो स्थिति को वैसा ही पाया जैसा कि बताया जा रहा है । उन्होंने परिवर्तन की आवश्यकता को अनुभव किया और ऐसी ही परिस्थिति में बार-बार दुहराई जाने वाली अपनी प्रत्यावर्तन पद्धति को पुनः क्रियान्वित करने का निश्चय किया ।

मनुष्य और भगवान् दोनों को ही कलंकित करने वाले काम देवता के दुष्ट कौतुक पर भगवान् शंकर बहुत कुपित हो उठे, उसे उचित दण्ड देने तथा इस माया मरीचिका को निरस्त करने के लिये त्रिशूल उठाया । भगवान् शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोला । उसके खुलते ही एक भयंकर दावानल प्रकट हुई, जिससे वह सारा माया कलेवर देखते-देखते घास-फूँस की तरह जल-बल कर भस्म हो गया, साथ ही काम देवता का कलेवर भी नष्ट हो गया । संसार को शान्ति मिली और मनुष्य अपने और भगवान अपने वास्तविक स्वरूप में आ गये । जब धरती माता और महिमामयी मानवता का चिर गौरव पुनः प्रतिष्ठापित हो गया तो देवता दुन्दुभी बजाने लगे और दशों दिशाओं में महाकाल का जय-जयकार होने लगा ।

अतीत काल का यह कथानक आज फिर अपनी पुनरावृत्ति कर रहा है । काम देवता ने मानवीय चेतना में असंख्य प्रकार की कामनायें भड़का दी हैं । विलासिता के इतने अधिक आकर्षण विनिर्मित हो गये हैं कि उनका आकर्षण छोड़ते नहीं बनता । स्वार्थ बढ़ रहा है, पाप प्रचण्ड हो रहा है और नरक की ज्वालायें हर क्षेत्र में धधकती चली आ रही हैं । स्थिति फिर असह्य हो उठी, हम सर्वनाश के कगार पर खड़े हैं । धरती और आकाश की आत्मायें सुरक्षा के लिये प्रार्थना करने में संलग्न हैं । सो लगता है कि महाकाल अब तीसरा नेत्र खोलने ही वाले हैं । मस्तिष्क के महाविन्दु में अवस्थित यह तीसरा नेत्र और कुछ नहीं व्यापक विवेक ही है । उसी के उन्मीलन से अज्ञान का अवसान होता है और तभी असंख्य समस्याओं के समाधान का मार्ग निकलता है । वर्तमान 'विचारक्रान्ति' महाकाल का तीसरा नेत्र ही है जो प्रचण्ड दावानल का रूप

धारण कर अज्ञान युग की सारी विडम्बनाओं को भस्मसात कर स्वस्थ और स्वच्छ दृष्टिकोण प्रदान करेगी । इन उपलब्धियों के बाद विश्व शान्ति के मार्ग में कोई कठिनाई शेष न रह जायेगी । ⊙

दशम अवतार और इतिहास की पुनरावृत्ति

इतिहास कई बार अपनी पुनरावृत्तियाँ किया करता है । ऋतुयें अपने चक्र पर घूम कर एक वर्ष बाद जहाँ की तहाँ आ जाती हैं । सूर्य जहाँ आज उदय हुआ था, २४ घण्टे बाद फिर वहीं आ उदय होता है । जीव जन्म लेता है, बढ़ता है और मर जाता है, फिर इसके बाद उसी जन्मने बढ़ने, मरने के क्रम को दुहराता है । पृथ्वी अपनी धुरी पर एक दिन में एक परिभ्रमण करती है और वर्ष में एक बार सूर्य की परिक्रमा करती है । यही क्रम वह अनादिकाल से असंख्यों बार दुहराती चली आयी है । युग, मन्वन्तर, कल्प आदि अपने क्रम को दुहराते रहते हैं । ग्रह–नक्षत्र अपनी धुरी और परिधि पर बार–बार निर्धारित क्रम से भ्रमण करते हैं । सृष्टि और प्रलय का चक्र भी यथावत् चलता रहता है । समुद्र से वर्षा, वर्षा का जल समुद्र में इसके बाद वही क्रम । बीज से बीज । तात्पर्य यह कि इस संसार में सभी कुछ अपनी नियत क्रम व्यवस्था के अनुसार परिभ्रमण करते हुए बार–बार उसी केन्द्र–बिन्दु पर आ पहुँचता है, जहाँ से कि वह आरम्भ हुआ था । इतिहास का भी यही क्रम है । व्यक्तियों और घटनाओं में हेर–फेर होता रहता है, पर वस्तुतः वही सब होता रहता है जो अनादिकाल में कभी हुआ है । इसी तथ्य को प्रकट करने के लिये किसी पश्चिमी विद्वान ने कहा था कि 'देयर इज नथिंग न्यू अण्डर दी सन' (सूर्य के नीचे (विश्व में) कभी कोई नवीन बात नहीं होती ।

जरा–जीर्ण समाज व्यवस्था में बार–बार सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती है । कपड़ा मैला हो जाता है उसे फिर धोना पड़ता है । बर्तनों की हर दिन सफाई होती है । घर में रोज बुहारी लगती है । दाँत रोज माँजने पड़ते हैं । कारण यह है कि एक

बार सफाई कर देने के बाद फिर मैल जमना आरम्भ हो जाता है और कुछ ही समय में मलीनता इतनी बढ़ जाती है कि दुबारा उसकी सफाई अनिवार्य हो जाती है । दिवाली पर हर साल मकान की लिपाई, पुताई रंगाई न की जाय, तो उसकी सुन्दरता और मजबूती दोनों को ही खतरा पैदा हो जायगा । इमारतें, नहरें, सड़कें, मशीनें, मोटरें सभी अपनी समायिक मरम्मत माँगती हैं । यदि उनकी उपेक्षा की जाय तो वे बहुमूल्य वस्तुयें समय से बहुत पहले ही निकम्मी और बर्बाद हो जाती हैं । अतएव बुद्धिमान लोग जब भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि तुरन्त सुधार की प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं । यह एक निर्धारित क्रम है, उसकी पुनरावृत्ति होती ही रहती है, होनी भी चाहिये । जराजीर्ण समाज व्यवस्था की भी समयानुसार मरम्मत होती है । सुधारकों का आवागमन बना रहता है । धर्मोपदेशक, समाज सुधारक, मार्ग–दर्शक देवदूत, सन्त, ऋषि–मुनि समय–समय पर आते हैं और अपने काल की तात्कालिक आवश्यकताओं को देखकर उनके सम्भालने सुधारने का अपने–अपने ढंग से प्रयत्न करते हैं । अब तक हर देश में, हर काल में, वहीं की भाषा और संस्कृति के आधार पर सुधार कार्य सम्पन्न करने वाली ऐसी अगणित आत्मायें अवतरित हो चुकी हैं, आगे भी होंगी ।

परिस्थिति जब अधिक विषम हो जाती है, तो उसके लिये महाकाल को अपने शस्त्र सम्भालने पड़ते हैं । छोटे–मोटे मकान, पुल मामूली इन्जीनियर बना लेते हैं, पर यदि कोई बहुत बड़ा बाँध बनाना हो तो उसके लिये बड़े इन्जीनियरों की आवश्यकता होती है । कोई भारी बाँध टूट जाय और उसमें भरे हुए पानी से सैकड़ों मील प्रदेश डूब जाने का खतरा उत्पन्न हो जाय तो उस संकट का निवारण फिर मामूली इन्जीनियरों के बस का काम नहीं रहता । फिर उस समस्या का हल विशेषज्ञों द्वारा ही खोजा जाता है । समाज में मामूली गड़बड़ियाँ तो बार–बार होती, उठती रहती हैं और उनका सुधार कार्य सामान्य सुधारकों द्वारा सम्पन्न हो जाता है, पर जब पाप अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाता है, मर्यादायें टूट जाती हैं, जन–मानस चिकने घड़े की तरह किसी शुभ प्रेरणा और सत् प्रभाव से प्रभावित होने की क्षमता खो बैठता है,

तब महासुधारक की आवश्यकता पड़ती है । इस कार्य को महाकाल स्वयं करते हैं, क्योंकि अन्ततः बिगड़ी, बेकाबू परिस्थितियों को संतुलन में लाने की जिम्मेदारी उन्हीं की है । अस्पतालों में छोटे आपरेशन ही सहायक डाक्टर करते रहते हैं, पर जब जान जोखिम का 'मेजर आपरेशन' करना हो तो उसमें सिविल सर्जन की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है । इन दिनों जन-जीवन किस अनैतिक स्तर पर पहुँच गया है, उसमें अब छोटे सुधार से, छोटे सुधारकों से काम चलता नहीं दीखता । अब उसके लिये बहुत बड़ी उलट-पुलट की, उथल-पुथल की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है । इस प्रयोजन की पूर्ति भगवान् का प्रत्यावर्तन तत्व-महाकाल-करते रहे हैं । अब भी वे ही करने जा रहे हैं । प्राचीनकाल में भी ऐसा ही होता रहा है । अब उसी की पुनरावृत्ति पुनः होने जा रही है ।

आगामी कुछ ही वर्षों में संसार में एक भयानक उथल-पुथल होने जा रही है । इस उथल-पुथल में भौतिक दृष्टि से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है, जिनमें मनुष्य जाति के कष्टों में अभिवृद्धि हो और उस प्रताड़ना से प्रभावित मनुष्य यह विचारने को विवश हो कि उस राह पर नहीं चला गया, जिस पर चलना चाहिये था । अनीति अन्ततः हानिकारक होती है, इतनी छोटी-सी शिक्षा यदि लोग स्मरण रख सके और अपना सके होते तो प्रकृति को कुपित होकर अपना रुद्र रूप धारण न करना पड़ता और असंख्यों को जो अगणित कष्ट भोगने के लिये बाध्य होना होता है उसकी आवश्यकता न पड़ती ।

भगवान् का किसी से द्वेष नहीं । वे तो परम कारुणिक और परम मंगलमय हैं । इसी से तो उन्हें शिवशंकर कहते हैं । भोला भी उन्हीं का नाम है ।

भोला का अर्थ है-सरल, सौम्य, सज्जन । जो इस प्रकार की प्रवृत्ति का है, वह भला दूसरों को कष्ट देने में मोद मनाने की नृशंसता क्यों करेगा ? विवशता ही इसके लिये उन्हें बाध्य कर देती है । मनुष्य जब अत्यधिक दुराग्रही, अहंकारी और ढीठ हो जाता है, सज्जनता की रीति-नीति को बेतरह तोड़ता है और दुष्टता पर उद्धततापूर्वक उतारू हो जाता है तभी उन्हें ऐसा कुछ करना पड़ता है, जो कष्टकर और भयंकर

दीखे । यद्यपि सड़ा फोड़ा चीरने के लिये माता द्वारा अस्पताल ले पहुँचना और डाक्टर द्वारा वहाँ फाड़-चीड़ करना दोनों के ही काम निर्ममतापूर्ण दीखते हैं, पर उससे रोगी का हित ही लक्ष्य में रहता है । दोनों ही यह चाहते हैं कि कष्ट पीड़ित का कष्ट मिटे और वह रोज-रोज की व्यथा वेदना से मुक्ति पाकर सुख-शान्ति का जीवन बिताये, भले ही कुछ क्षण इसके लिये उसे कष्ट उठाना पड़े । आज का मानव समाज भी विष व्रण से ग्रस्त रोगी की तरह है । उसके कल्याण का इन परिस्थितियों में यही मार्ग दीखता है कि फोड़ा चीर दिया जाय, ताकि सड़ा मवाद जो हर समय वेदना उत्पन्न करता है, निकल कर दूर हो जाय ।

अवतारों का यही प्रयोजन सदा से रहा है । वे इस प्रकार की हलचल पैदा करते आ रहे हैं, जिससे अशान्ति का अन्त होकर शान्ति की स्थापना हो । महाकाल समय पर इस प्रयोजन के लिये एक भावनात्मक प्रवाह उत्पन्न करते हैं । इस प्रवाह में जन-मानस उद्वेलित होता है और उसमें से कितने ही ऐसे योद्धा निकल पड़ते हैं, जो इस दैवी पुण्य-प्रयोजन की पूर्ति के लिये असाधारण पुरुषार्थ कर दिखायें, अभीष्ट प्रयोजन को एक व्यक्ति नहीं वरन् अनेक मिलकर सम्पन्न करते हैं । भले ही उस अभियान के नेताओं में से किसी एक को विशेष ख्याति मिल जाय, पर वस्तुतः होता वह भावनात्मक प्रवाह ही है, जो सहज ही अनेक साथी सहयोगी बनाकर खड़े कर देता है और कष्ट-साध्य दीखने वाली परिवर्तन प्रक्रिया देखते-देखते सरल हो जाती है । आश्चर्य चकित लोग सूक्ष्म जगत् की प्रभु प्रेरित विधि व्यवस्था को तो देख नहीं पाते, बाहर जो सबसे प्रमुख व्यक्ति दीखता है, उसी के सिर श्रेय का सेहरा बाँध देते हैं । अवतारी या विजेता कोई एक घोषित किया जाता है-यह मनुष्य की स्थूल दृष्टि की भूल भरी परख है । तत्वदर्शी जानते हैं कि एक व्यक्ति कितना ही बड़ा या समर्थ क्यों न हो ? वह अगणित मनुष्यों के सहयोग बिना कुछ नहीं कर सकता और यह सामूहिक संघर्ष, असहयोग की प्रवृत्ति समय-समय पर महाकाल भड़काते हैं । वे निराकार हैं इसलिये उनका कार्य क्षेत्र भी सूक्ष्म जगत् ही होता है । वे भाव-स्वरूप चेतना हैं ।

इसलिये विश्व व्यापी चेतन तत्व में उनकी आकांक्षा सक्रिय होती है । उसकी स्फुरणा से प्रबुद्ध व्यक्ति बड़े-बड़े काम करने लगते हैं । उन्हें सहयोग, श्रेय और साफल्य उपलब्ध होता है । इसलिये लोग उन्हीं को प्रयोजनपूर्ण कर्त्ता, विजयी, उद्धारक अवतार मानते हैं । वस्तुतः होता कुछ और ही है । इन कठपुतलियों को नचाने वाला सूत्रधार पर्दे के पीछे छिपा बैठा रहता है, उसे चमड़े की आँखें देख कहाँ पाती हैं ?

युग परिवर्तन की आशा पूर्ण करने के लिये अतीतकाल में अनेक अवतार हुए हैं । कहीं दस का, कहीं चौबीस का, वर्णन मिलता है । इन सबकी सामयिक परिस्थितियाँ अलग थीं, अस्तु उन्हें कार्यक्रम, स्वरूप एवं साधन भी अपने ढंग के अलग जुटाने पड़े, पर उद्देश्य सभी का एक था-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

इसी को रामायण में इन शब्दों में कहा गया है-

जब जब होहि धरम की हानी ।
बाढ़हिं अधम असुर अभिमानी ।।
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा ।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।

अनीति और अवाञ्छनीयता को हटाकर उसके स्थान पर औचित्य एवं विवेक को प्रतिष्ठापित करने का दैवी प्रयोजन समय-समय पर अनेक हस्तियाँ सम्पन्न करती और यशस्वी होती रही हैं । महत्वपूर्ण अवसरों पर यह अवतरण प्रक्रिया अनादिकाल से उपस्थित होती रही है । ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने पर उसी प्रकरण की पुनरावृत्ति फिर हो रही है ।

प्राचीन काल में उत्पादन और वैभव ठप्प हो गया था, सभी देव असुर आलस और नैराश्य में ग्रसित मानस बैठे थे । तब महाकाल ने समुद्र मंथन के लिये प्रेरणा उत्पन्न की । देवता और असुरों का सम्मिलित

सहयोग सम्भव हो गया । समुद्र में से ऐसे १४ रत्न निकले, जिन्हें पाकर विश्व वसुधा की समृद्धि असंख्य गुनी बढ़ गयी । समुद्र मंथन के आधार की आवश्यकता पड़ी, मन्दराचल पर्वत की रई तो बन गयी, पर इतना भारी पर्वत कहाँ जाय ? उसका भार कौन सम्हाले ? तब कच्छप अवतार आगे आया । उसने आधार बनना स्वीकार किया । उसी की पीठ पर समुद्र मंथन हुआ । कच्छप अवतार की जय बोली गयी । क्योंकि उनने एक बड़ा उत्तरदायित्व वहन किया था । फिर भी वे समुद्र मन्थन की सारी प्रक्रिया को सम्पन्न करने वाले नहीं कहे जा सकते । जिस समय सर्प की रस्सी बनायी गयी थी, जैसे जिन देवताओं और असुरों ने लम्बी अवधि तक श्रम किया था, जिस समुद्र ने अपने गर्भ से निकाल कर वे रत्न दिये, उन सभी का सहयोग असामान्य था । वस्तुतः सभी की सम्मिलित विजय थी । तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस उपलब्धि का श्रेय उस भावनात्मक प्रवाह को है जिसने लोक-मानस में एक विशेष प्रकार की हलचल उत्पन्न की और जिसने अप्रत्यक्ष रूप से उसके साधन-उपकरण जुटाने का असम्भव कार्य सम्भव बना दिया । तो भी इतिहासकार उस उपलब्धि का श्रेय कच्छप अवतार को देते हैं । इसमें कोई बड़ा दोष भी नहीं है । पूरी न सही, एक महत्वपूर्ण भूमिका तो आखिर उनकी भी थी ही ।

हर अवतार में उसी तथ्य की पुनरावृत्ति होती रही है । मत्स्य, कूर्म, बराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, कृष्ण, राम, बुद्ध के चरित्रों पर व्यापक दृष्टि डालने से यही तथ्य उभर कर ऊपर आ जाता है । अवतारी युग पुरुष बड़े-बड़े अद्भुत काम कर दिखाते हैं, वे आश्चर्यजनक होते हैं और अनुपम भी, पर दो बातें हर अवतार में एक-सी रहती हैं-एक यह कि अवतार का उद्देश्य तत्कालीन अवांछनीय परिस्थितियों को बदलना रहता है और दूसरा यह कि इस प्रयोजन में जन-सहयोग की आवश्यक मात्रा सम्मिलित रहती है । भगवान कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया था तो उसमें अनेक ग्वाल-बाल भारी पहाड़ से दबकर मरने का भय छोड़कर लाठी का सहारा लगाये खड़े थे । महारास रचाया तो अनेक गोपियाँ अपने विषम बन्धनों को तोड़कर उसमें सम्मिलित हो गयीं । महाभारत रचाया तो साधन विहीन पाण्डवों के साथ एक बड़ी सेना आ खड़ी हुई ।

रचनात्मक हो या ध्वंसात्मक उनके हर काम में जन सहयोग विद्यमान था। भगवान राम के प्रयोजन में–रीछ, वानर, गिद्ध, गिलहरी जैसे असंख्य सहयोगी सम्मिलित थे। बुद्ध के लक्ष–लक्ष अनुयायी देश–विदशों में भ्रमण कर सत्य, अहिंसा का पाठ पढ़ाते थे। अशोक जैसे सम्पन्न, आनन्द जैसे प्रबुद्ध एवं अम्बपाली जैसे आकर्षक व्यक्तित्त्व उनके साथ थे। इन अवतारी नर–पुरुषों ने अपने समय के जमाने को पलट देने में सफलता पायी। बुद्ध और गाँधी ने तो एक नया प्रयोग करके दिखाया कि बिना खून खराबी और उत्पीड़न के भी जमाने को पलटा जा सकता है और अवतरण का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

अब दसवाँ "निष्कलंक" अवतार इन दिनों हो रहा है––हो चुका है। यह एक भावना–प्रवाह है जिसका उद्देश्य है पिछले हजारों वर्षों की कलंक कालिमा को धोकर मानवता का मुख उज्ज्वल करना, कलंक को धो डालना। दशवें निष्कलंक अवतार के नाम पर अन्ततः उस अभियान की सफलता का सेहरा किसके सिर पर बाँधा जायेगा, इसमें साधारण लोगों को भले ही दिलचस्पी हो, तत्वदर्शियों की दृष्टि में इसका रत्ती भर भी महत्व नहीं। वे जानते हैं कि इतने बड़े प्रयोजन की पूर्ति कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता। भगवान् अपने विशेष प्रतिनिधि इस संसार में जरूर भेजते हैं, पर पूर्ण भगवान् कभी जन्म नहीं ले सकता। यदि पूरा भगवान् एक जगह जन्मे तो फिर तो शेष संसार की सारी व्यवस्था कौन सम्भाले ? सदा अंश अवतार ही होते हैं, अवतरण की वेला में एक नहीं अनेक प्रबुद्ध आत्मायें एक साथ अवतरित होती हैं और वे मिल–जुलकर दैवी प्रयोजनों की पूर्ति सम्भव करती हैं।

इस तथ्य को जानने वाले व्यक्तियों को नहीं प्रवाह स्रोत को पहचानने का प्रयत्न करते हैं। इन दिनों युग परिवर्तन का जो सुव्यवस्थित विश्व–व्यापी भावना प्रवाह उद्वेलित हो रहा है, उसके पीछे एक ही लक्ष्य है–मानवता के अतीत कालीन उज्ज्वल गौरव की पुनः प्रतिस्ठापना। लम्बी अवधि तक विदेशी शासन के अन्तर्गत रहने और आवश्यक संघर्ष में कमी रहने देने की भीरुता का कलंक हमारे मस्तक पर एक कालिमा की तरह लगा हुआ है। हम अवांछनीय को इसलिये सहन करते हैं कि हमें

संघर्ष में पड़ने से कष्ट उठाने पड़ेंगे, त्याग करने पड़ेंगे । यह कलंक साहसी शूरवीर और आत्मा को अमर मानने वाली जाति के लिये निस्संदेह बहुत ही घृणित है । जन–मानस में उद्वेलित वर्तमान भावना प्रवाह अब इसी दिशा में उमड़ चला है कि हम स्वाभिमानी, साहसी, सत्यनिष्ठ, विवेकवान मनुष्यों की तरह जियें और हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन पर पिछली शताब्दियों में जो कलंक लग गये हैं उन्हें परिपूर्ण प्रायश्चित के साथ धोवेंगे और उन परिस्थितियों को उत्पन्न करेंगे जो किसी गौरवशाली समाज के लिये उचित हैं । यह भावना प्रवाह निष्कलंक अवतार ही तो होगा ।

प्राचीनकाल में विवेक की पूजा होती थी, मूढ़ता एवं रूढ़िवादिता की नहीं । आज सब कुछ उल्टा है । ढर्रे की पूजा होती है, विवेक को पद–दलित कर दिया गया है । मनुष्य–मनुष्य के बीच पाई जाने वाली वंश जाति के नाम पर ऊँच–नीच की भावना तथा नर–नारी के बीच पाई जाने वाली ऊँच–नीच की वृत्ति सर्वथा अनैतिक एवं अवांछनीय है । यह कलंक हम सभ्यताभिमानियों पर बुरी तरह लगा हुआ है कि हर बात तो न्याय की, नीति की, समता की, सत्य की करते हैं, पर बरताव बिल्कुल उल्टा करते हैं । विवाह–शादियों में होने वाला अन्धाधुन्ध खर्च तथा अगणित अन्ध–विश्वासों के कारण जन–जीवन को जो असीम क्षति उठानी पड़ रही है उसका विरोध करने में हीनता दिखाना हमारी विवेकशीलता को कलंकित करता है । व्यक्तिगत जीवन में हम जिस आलस, विलासिता. असंयम, स्वार्थ, अहंकार का असभ्य प्रदर्शन करते हैं, उसने विश्व के सभ्य–समाज में हमारा स्थान कहाँ रहने दिया है ? पारस्परिक सहयोग की जितनी उपेक्षा अब हम करते हैं उतनी प्राचीन काल में कभी नहीं की गयी । क्या यह सब बातें हमें कलंकित नहीं करतीं । इस विपन्नता को दूर करने के लिये आज की दैवी प्रेरणा इसी दिशा में प्रवाहित हो रही है कि हम अपने व्यक्तित्व को, परिवार को, समाज को, सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने के लिये वे प्रयत्न करें जिससे इन दिनों जो लांछन अपने ऊपर लगाये जा रहे हैं उनका पूरी तरह परिशोधन, परिमार्जन एवं प्रायश्चित हो सके । हम संसार के सामने सभ्य, सज्जन बनकर उपस्थित हों, अपने अद्यावधि सभी

कलंकों को धो डालें और निष्कलंक समुज्ज्वल जीवन नये सिरे से जीना प्रारम्भ करें ।

दशम अवतार हो चुका है--वह पढ़, बढ़ और परिपुष्ट हो रहा है । पौराणिक भाषा में उसका नाम है, निष्कलंक क्योंकि वह हमारी वर्तमान तथा पिछली पीढ़ियों की दुष्प्रवृत्तियों, कलंकों को धोने आ रहा है । उसके द्वारा ऐसा भावात्मक प्रवाह उत्पन्न किया जा रहा है जिससे लोग अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा समस्याओं में उलझे होने की संकीर्णतापूर्ण बहानेबाजी को छोड़कर खुशी-खुशी लोक-मंगल के लिये भावनापूर्वक कटिबद्ध होंगे । इसके लिये बड़े-बड़े तप, त्याग करने में भी संकोच न करेंगे । निष्कलंक अवतार की यह प्रत्यक्ष प्रवाह प्रेरणा हम अपने चारों ओर प्रवाहित होते हुए आसानी से देख समझ तथा अनुभव कर सकते हैं ।

निष्कलंक अवतार के साथ किस व्यक्ति का नाम जोड़ा जायगा, यह बहुत पीछे की और बहुत ही महत्वहीन बात है । इसका निर्णय तीस वर्ष का घटनाक्रम तथा इतिहास करेगा । अभी उसकी ढूँढ़-तलाश तथा पहचान अनावश्यक भी है और निरर्थक भी । निष्कलंक अवतार द्वारा प्रांदुर्भूत नव-निर्माण के लिये समुद्यत भावना प्रवाह को हम श्याम-घटा ही की तरह आकाश में घुमड़ते हुए भली प्रकार देख सकते हैं और निष्कलंक अवतार की उपस्थिति के सम्बन्ध में विश्वस्त हो सकते हैं ।

पर इस संक्रान्तिकाल में कुछ ऐसे व्यक्ति भी निकल पड़ते हैं, जो 'अवतार' होने का दावा करके संसार को भीषण परिस्थितियों से मुक्ति दिलाने का वायदा करते हैं । इससे अनेक सीधे-साधे व्यक्ति भ्रम में पड़कर मार्ग च्युत हो जाते हैं और अवतार सम्बन्धी कार्यक्रम में सहयोग देने के बजाय उल्टी-सीधी बातें करने लगते हैं, जिससे इस महान् उद्देश्य को क्षति पहुँचती है । ऐसे तथाकथित 'अवतार' उन स्वार्थी और घुसपैठ करने वाले व्यक्तियों की तरह हैं जो जहाँ लाभकारी स्थिति देखते हैं वहीं वैसा ही रूप बनाकर उपस्थित हो जाते हैं । जैसे शासनाधिकार को पा जाने पर हजारों चलते पुर्जा व्यक्ति शुद्ध खद्दर की पोशाक पहनकर गाँधी जी के अनुयायी बन बैठे और अन्त में काँग्रेस की नैया को डुबाने के निमित्त

सिद्ध हुए । इसी प्रकार ये 'अवतार' नामधारी भी महाकाल द्वारा जगत की दुरवस्था का सुधार करने के कार्यक्रम में इस प्रकार के ढोंग और स्वार्थपूर्ति की कार्यवाहियों द्वारा बाधा स्वरूप ही सिद्ध होते हैं ।

इतिहास की पुनरावृत्ति होती रही है । अब फिर हो रही है । अवांछनीय अन्याय और अविवेक का उन्मूलन करके सद्भावनाओं एवं सत्यवृत्तियों का अभिवर्धन करने के लिये पिछले अन्य नौ अवतारों की तरह दशवाँ अवतार फिर हो रहा है । आँख वाले उसका दर्शन कर सकते हैं और बुद्धि' वाले ईश्वरीय व्यापार में साझीदार होकर वह सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं जिसके लिये उनका यश शरीर अनन्त काल तक उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह चमकता रह सके । ◉

सहस्र शीर्षा पुरुषा....

पुरुष सूक्त में भगवान् के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उसे "सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्राक्ष–सहस्र पात्" हजार सिर वाला, हजार हाथ वाला बताया गया है । यों ब्रह्म एक है पर विशेष अवसरों पर वह अपने विशेष साधनों, उपकरणों द्वारा अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति करता है । सृष्टि के संचालन में हजारों देव शक्तियाँ उसकी सहचरी बनकर विश्व–व्यवस्था की महान प्रक्रिया सम्पन्न करती हैं । युग परिवर्तन जैसे विशिष्ट अवसरों पर हजारों जीवन मुक्त उच्च–स्तरीय आत्मायें उसकी सहचर बनकर महाकाल का प्रयोजन पूरा करती हैं ।

सृष्टि के सृजनकर्त्ता ब्रह्माजी की उत्पत्ति कमल पुष्प में से है । यह कमल पुष्प 'सहस्रार दल कमल' कहलाता है, जो मस्तिष्क के मध्य बिन्दु–ब्रह्मरंध्र में अवस्थित है । मूलाधार में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति को इस मानव पिण्ड का दक्षिण ध्रुव और मस्तिष्क स्थित सहस्रार कमल को उत्तर ध्रुव माना गया है । देहधारी की समस्त भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ इन्हीं ध्रुवों में केन्द्रित रहती हैं । प्रमुखता आत्मबल की है । सहस्रार कमल में केन्द्रित रहने के कारण ईश्वर की उत्पत्ति एवं स्थिति का केन्द्र बिन्दु उसे ही माना गया है ।

क्षीर सागर में शेष शैया पर सोये हुए विष्णु का अलंकार इसी रहस्य का उद्‌घाटन करता है । शेष सर्प कुण्डलिनी शक्ति का प्रतीक है, उसके हजारों फनों में सहस्रार कमल का संकेत है । यह सहस्र शिर, सहस्र आँखें, सहस्र हाथ-पैर, सहस्रार कमल का वर्णन यह बताता है कि भगवान् के महत्वपूर्ण क्रिया-कलाप सहस्रों शक्तियों की सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होते हैं । शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र को सहस्र अप्सराओं के साथ नृत्य करता हुआ बताया गया है और आगे चलकर उसी का रहस्योद्‌घाटन सूर्य का सहस्र किरणों के साथ अपनी क्रिया पद्धति गतिशील रखने के रूप में किया गया है । भगवान् एक अवश्य हैं, पर वे कुछ विशेष प्रयोजन पूर्ण करते हैं, तब एकाकी नहीं रहते वरन् सहस्र रश्मियों वाले अंशुमाली की तरह प्रकट होते हैं । युग परिवर्तन जैसे प्रयोजनों में तो उनका 'सहस्र शीर्षाः" रूप निश्चय ही विकीर्ण हो उठता है ।

कृष्णावतार की लीलाओं में इस तथ्य को अलंकारिक रूप में और भी अधिक स्पष्ट किया गया है । कृष्ण लीला में 'महारास' की चर्चा सर्वोपरि रहती है । निविड़ निशा में सोती हुई गोपियों को वंशी बजाकर जगाना, घरों से बाहर एकान्त में उन्हें बुलाना और उनके साथ नृत्य करना, हर गोपी को पूर्ण कृष्ण के साथ नृत्य का अनुभव कराना, यह घटनाक्रम सामाजिक दृष्टि से अनुचित और अवांछनीय प्रतीत होता है, पर जब हम इस आध्यात्मिक पहेली को बूझते हैं और इस अलंकार के पीछे छिपे मर्म को ढूँढ़ निकालते हैं, तब हमें इस महत्वपूर्ण तथ्य का पता चल जाता है । अज्ञान व्यामोह की निविड़ निशा में सोती हुई प्रबुद्ध आत्माओं का ईश्वरीय वाणी-आत्म पुकार की वंशी द्वारा उद्‌बोधन किया जाना, उनका एक सीमित परिवार की उपेक्षा कर विश्व-परिवार के लिये गौतम बुद्ध की तरह आगे बढ़ चलना-ईश्वरीय प्रयोजन में सबका एक साथ तन्मयता पूर्वक जुट जाना यही सब तो महारास है । महाकाल को विशेष अवसरों पर ऐसा महारास रचना पड़ता है जिसमें उत्कृष्ट आदर्श के लिये सहस्रों महामानव कार्यरत दिखाई पड़ें । गोपियाँ प्रबुद्ध आत्मायें हैं, वंशी-आत्मा की पुकार, महारास-ईश्वरीय विशेष प्रयोजन, निशा-व्यामोह, परिजनों की उपेक्षा-स्वार्थ और संकीर्णता की परिधि का साहसपूर्वक उल्लंघन । इस महारास में जो सहस्रों गोपियाँ-प्रबुद्ध आत्मायें भाग ले सकीं वे ब्रह्मानन्द का आनन्द

लेती हुईं अपने को बड़भागी अनुभव कर सकीं । जो सोती रह गईं उन्हें पछताना पड़ा ।

भगवान् कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ बताई जाती हैं । यों लौकिक दृष्टि से यह बात समझ से बाहर की है । महाभारत में उनकी एक-दो पत्नियों का ही वर्णन है । रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ही उनकी धर्म-पत्नी हैं । सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से यह उचित भी था । फिर यह हजारों रानियाँ क्या हैं, इस पहेली का हल भी उपरोक्त प्रकार का ही है । ईश्वरीय प्रयोजन में जो आत्मायें प्राणपण से जुट जाती हैं, उसी में अपना आत्म-समर्पण कर देती हैं । वे आत्मा-परमात्मा की प्राण-प्रिय पत्नियाँ ही कहलायेंगी । पत्नी सम्बन्ध के साथ अश्लील काम-क्रीड़ा और गोपनीयता का सम्बन्ध जुड़ जाने से सामाजिक क्षेत्र में वह रिश्ता अड़चन भरा और अचकचा-सा लगता है, पर अध्यात्म चर्चा में इस प्रकार की कोई अड़चन नहीं है । आत्म-समर्पण और अभिन्न एकता की जो भावनात्मक स्थिति है उसकी तुलना लौकिक रिश्ते में पति-पत्नी भाव से ही मिलती-जुलती है । अन्य रिश्ते कुछ दूर पड़ जाते हैं । इसलिये सन्तों सूफियों ने आत्मा और परमात्मा की एकता को प्रणय सूचक शब्दों में अनेक गीतों में गाया है । कबीर का सुरतियोग, मीरा का प्रणय-योग एक उच्च आध्यात्मिक भूमिका है । उसमें जिस पति-पत्नी भाव की चर्चा की है वह सामान्य गृहस्थ पद्धति से असंख्य गुनी ऊँची वस्तु है । श्रीकृष्ण भगवान् की सोलह हजार रानियाँ उस अवतार की सहयोगिनी सोलह हजार प्रबुद्ध आत्मायें ही हैं । इस अलंकारिक दाम्पत्य जीवन ने हर रानी को आठ-आठ सन्तानें दीं । अर्थात् इन लोगों ने आठ-आठ अपने उत्तराधिकारी और बनाये । वे स्वयं तो ईश्वरीय प्रयोजन में तत्पर रहे ही साथ ही उनकी प्रयत्नशीलता ने औसतन आठ-आठ साथी सहचर-अनुयायी और बढ़ा दिये, यह उनकी सन्तानें थीं ।

इस प्रकार के विवाह में नर-नारी लिंग भेद अपेक्षित नहीं । सखी-सम्प्रदाय में पुरुष भी अपनी मनोभूमि को नारी जैसी मानकर पति रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं । भक्ति-योग में ऐसे अनेक साधन-क्रम विद्यमान हैं । कृष्ण उपासना का क्रिया-कलाप तो बहुत करके इसी स्तर

का है । नर भी उन्हीं गीतों को गाकर भाव–विभोर होते हैं जिन्हें नारियाँ अपने पति के संदर्भ में गा सकती हैं । गोपी–कृष्ण का प्रेम–प्रसंग प्रस्तुत नर–नारी भेद से असंख्य गुना ऊँचा है उसे विशुद्ध रूप से आत्मा–परमात्मा का मिलन बिन्दु ही कहा जा सकता है । कृष्णावतार के समय सहस्रों प्रबुद्ध आत्माओं ने परमात्मा के अभीष्ट प्रयोजन में आत्म–समर्पण करके जो महारास रचाया उसी से अवतार का उद्‌देश्य पूर्ण हो सका । साथी–सहचरों के बिना अकेले कृष्ण आखिर कर भी क्या सकते थे ?

शरीर से हृदय का बहुत महत्व है । जीवन का श्रेय उसी को है, पर सहस्रों नाड़ियों द्वारा उसे रक्त अर्पण करने का जो प्रेम–योग साधा जाता है उसी आधार पर शरीर जीवित है । समुद्र इसीलिये नहीं सूखता कि सहस्रों नदियाँ इनमें अपना योगदान अर्पित करती हैं । चक्रवर्ती शासक वही कहलाता है, जिसमें सहस्रों राजा एक महाछत्र के नीचे प्रकाशित होते हैं । इसी एकीकरण के लिये प्राचीन काल में अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन होता था । उन्हें राजनैतिक महारास कहना चाहिये ।

इन दिनों यही सब हो रहा है । अनेक जन्मों से जिनके पास आध्यात्मिक पूँजी संग्रहीत है, उन प्रबुद्ध आत्माओं को युग निर्माण योजना के कार्यक्रमों द्वारा अपने अवतरण उद्‌देश्य से परिचित और अभ्यस्त कराया जा रहा है । यह स्थूल प्रक्रिया हुई । सूक्ष्म स्तर पर वे परस्पर अभिन्न–योग का अभ्यास कर रहे हैं । सब मिलकर एक केन्द्र बिन्दु का निर्माण कर रहे हैं । संग्रहीत ऋषि रक्त से सीता उपजी थी और संग्रहीत देव शक्ति से दुर्गा । यह संग्रह नदियों द्वारा समुद्र को किये गये योगदान की तरह एक केन्द्र बिन्दु को परिपुष्ट करेगा । सौर मण्डल के ग्रह उपग्रहों का सम्मिलित संगठित सौर परिवार जिस प्रकार विश्व ब्रह्माण्ड की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल रहा है उसी प्रकार दशम् निष्कलंक अवतार–नव–निर्माण का प्रचार अभियान भी एक अत्यन्त सामयिक भूमिका प्रस्तुत करेगा ।

ध्वंस के देवता और सृजन की देवी

संसार की जराजीर्ण और अवांछनीय परिस्थितियों के सामान्य सुधार प्रयत्न सफल न होते देख जब महाकाल ने ताण्डव नृत्य किया तो अनुपयुक्त कूड़ा–करकट जल–बलकर भस्म होने लगा । यह ध्वंसकाल स्वरूप समय की स्थिति है । बड़े–बड़े महल कुछ ही समय में गिराये जा सकते हैं, पर उनका बनाना कठिन होता है और समय साध्य भी । ध्वंस से निर्माण का महत्व अधिक है । जब ध्वंस हो चुका तो महाकाल का कार्य समाप्त हो गया और सृजन की देवी महाकाली आगे आयी । उसने महाकाल से उसका ताण्डव बन्द कराया । उन्हें भूमि पर लिटा दिया और स्वयं आगे बढ़कर सृजनात्मक क्रिया–कलाप में संलग्न हो गयीं ।

महाकाली को पुराणों में इस प्रकार चित्रित किया गया है कि महाकाल भूमि पर लेटे हुए हैं और वे उनकी छाती पर खड़ी अट्टहास कर रही हैं । यों पति की छाती पर पत्नी का खड़ा होना अटपटा–सा लगता है, पर पहेलियों में यह अटपटापन जहाँ कौतूहल वर्धक एवं मनोरंजक होता है, वहाँ ज्ञान वर्धक भी । कबीर की उल्टावांसी और खुसरो की 'मुकरनी' पहेलियों के रूप में सामने आती हैं और अपना रहस्य जानने के लिये बुद्धिमत्ता को चुनौती देती है । भूमि पर लेटे हुए शिव की छाती पर काली का खड़े होकर अट्टहास करना, घटना के रूप में घटित हुआ था या नहीं इस झंझट में पड़ने की अपेक्षा हमें उसमें सन्निहित धर्म और तथ्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिये ।

ध्वंस एक आपत्ति धर्म है–सृजन सनातन प्रक्रिया । इसलिये ध्वंस को रुकना पड़ता है, थक कर लेट जाना और सो जाना पड़ता है । तब सृजन को दुहरा काम करना पड़ता है । एक तो स्वाभाविक सृष्टि संचालन की रचनात्मक प्रक्रिया का संचालन– दूसरे ध्वंस के कारण हुई विशेष क्षति की विशेष पूर्ति का आयोजन । इस दुहरी उपयोगिता के कारण ध्वंस के देवता महाकाल की अपेक्षा संभवतः सृजन की देवी महाकाली का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है । शिव जब पड़े होते हैं तब शक्तिखड़ी होती

है । शिव पीछे पड़ जाते हैं शक्ति आगे आती हैं । शिव सोये होते हैं और शक्ति जागृत रहती है । शिव का महत्व घट जाता है और शक्ति की गतिशीलता पूजी जाती है । महाकाल की छाती पर खड़े होकर महाकाली का अट्टहास करना इसी तथ्य का अलंकारिक चित्रण है ।

शिव के हाथों में त्रिशूल अवश्य है, वे उसका अनिवार्य परिस्थितियों में प्रयोग भी करते हैं, पर हृदय में उनके सृजन की असीम करुणा ही भरी रहती है । सृजन की देवी काली उनकी हृदयेश्वरी है । उसे वे सदा अपने हृदय में स्थान दिये रहते हैं । आवश्यकतानुसार वह मूर्तिमान गतिशील और प्रखर हो उठती है । ध्वंस के अवसर पर तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक हो उठती है । आपरेशन के समय डाक्टर को चाकू, कैंची, आरी, सुई आदि तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों की भी जरूरत पड़ती है, पर उससे भी अधिक सामग्री मरहम पट्टी की जुटानी पड़ती है । आपरेशन के समय किये गये घाव को भरा कैसे जाये ? इसकी आवश्यकता भी डाक्टर समझते हैं अतएव वे रुई, गौज, मरहम पट्टी, दवायें आदि भी बड़ी मात्रा में पास रख लेते हैं । ध्वंस प्रक्रिया आपरेशन है तो निर्माण मरहम–पट्टी । भगवान को ध्वंस करना पड़ता है पर मूल में अभिनव सृजन की आकांक्षा ही रहती है । क्रूर कर्म में भी अनन्त करुणा ही छिपी रहती है । महाकाल की आंतरिक इच्छा सृजनात्मक ही है, यही उनकी हृदयगत आकांक्षा है । अस्तु शक्ति को शिव के हृदय के स्थान पर इस प्रकार अवस्थित दिखाया गया है मानो वह हृदय में से ही निकल कर मूर्तिमान हो रही हो ।

इस चित्रण का एक और भी उद्देश्य है कि विनाश के उपरान्त होने वाले पुनर्निर्माण में मातृ शक्ति का ही प्रमुख हाथ रहता है । बाप द्वारा प्रताड़ना दिये जाने पर बच्चा माँ के पास ही दौड़ता है और तब वही उसे अपने अंचल में छिपाती, छाती से लगाती, पुचकारती और दुलारती है । मातृ–शक्ति करुणा की स्रोत है । अस्पतालों में नर्स का काम महिलायें जैसी अच्छी तरह कर सकती हैं उतनी पुरुष द्वारा नहीं, छोटे बालकों को शिक्षा देने वाले बाल–मंदिर, शिशु सदनों में महिलाओं द्वारा जैसी अच्छी तरह प्रशिक्षण दिया जा सकता है, उतना पुरुषों द्वारा नहीं । कारण कि उनके अन्दर स्वभावतः जिस करुणा, दया, ममता, सेवा, सौजन्य

एवं सहृदयता का बाहुल्य रहता है, उतना पुरुष में नहीं पाया जाता। पुरुष प्रकृतितः कठोर है और नारी कोमल दोनों का सम्मिश्रण सम्मिलित होने से एक संतुलित स्थिति बनती है अन्यथा एकाकी रहने वाले पुरुष सेना जैसे कठोर कार्यों के लिये ही उपयुक्त हो सकते हैं।

यदि वर्तमान अवांछनीय परिस्थितियों की जिम्मेदारी नर-नारी में से किसकी कितनी है इसका विश्लेषण किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ९० प्रतिशत उद्धतता पुरुषों द्वारा बरती गयी है, क्रूर कर्मों और दुर्भावनाओं के अभिवर्धन में उन्हीं का प्रमुख हाथ है। अपराधी, दुष्ट, दुरात्मा और दण्डभोक्ता व्यक्तियों में पुरुषों की ही संख्या ९० प्रतिशत होती है। वर्तमान उद्धतता की जिम्मेदारी प्रधानतया पुरुषों की होने के कारण दण्ड भाग भी उन्हीं के हिस्से में आयेगा। भावी विनाश में प्रताड़ना उन्हीं के हिस्से में अधिक आने वाली है। नारी क्रूर कर्मों से बची रहती है, उसमें उसका योगदान नगण्य होता है इसलिये वह अपनी आध्यात्मिक गरिमा के कारण पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र, उज्ज्वल, सौम्य, रहने के कारण दुर्दैव की कोपभाजन नहीं बनती। शिव की छाती पर शक्ति के खड़े होने का एक तात्पर्य यह भी है कि आत्मिक श्रेष्ठता की कसौटी पर कसे जाने पर नारी की गरिमा ही अधिक भारी बैठती है। वही ऊपर रहती है। पुरुष इस दृष्टि से जब कि गिरा हुआ सिद्ध होता है तब नारी अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करती हुई गर्वोन्नत प्रसन्न वदन खड़ी होती है।

भावी नव-निर्माण में इमारतों, सड़कों, कल-कारखानों, सेना अथवा शस्त्रों का अभिवर्धन प्रधान नहीं, वरन् भावनात्मक निर्माण की प्रधानता रहेगी। इस क्षेत्र में नारी का ज्ञान, अनुभव तथा अधिकार असंदिग्ध है। इसलिये स्वभावतः जो जिसका अधिकारी है वही इस उत्तरदायित्व को वहन करेगा। भावी पुनरुत्थान में प्रधान भूमिका नर की नहीं नारी की होगी। विनाश की भूमिका का सरंजाम जुटाने में पुरुष आगे रहेगा, क्रूर कर्मों में उसी की बुद्धि आगे चलती है। सामान्य जीवन आनन्द की हत्या उसी ने की है। विश्व शान्ति पर आक्रमण उसी ने किया है। अब अपनी दुष्टता की पूर्णाहुति में भी अपनी कला के दो-दो हाथ वही दिखावे तो

उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । लेकिन भावनात्मक नवनिर्माण की, इसके तुरन्त बाद ही जिस पुनरुत्थान की आवश्यककता पड़ेगी उसे पूरा न कर सकेगा । यह कार्य नारी को करना है । इसी तथ्य को प्रतिपादित करती हुई महाकाल के थक जाने पर उसकी छाती पर महाकाली का हासविलास होता चित्रित किया गया है ।

पुरुष में अन्य विशेषतायें कितनी ही क्यों न हों, भावनात्मक क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में–नारी से वह बहुत पीछे है । यही कारण है कि साधना क्षेत्र में नारी ने जब भी प्रवेश किया है वह पुरुष की तुलना में सौ–गुनी तीव्र गति से आगे बढ़ी है । उसे इस दिशा में अधिक शीघ्र और अधिक महत्वपूर्ण सफलतायें मिलती हैं । माता को कन्यायें अधिक प्रिय होती हैं, उन्हें वे दुलार भी अधिक करती हैं और अनुग्रह भी । अध्यात्म की अधिष्ठात्री महाशक्ति का अवतरण अनुग्रह यदि नारी साधकों पर अधिक सरलता से अधिक मात्रा में होता है, तो यह उचित ही है । भावी नवनिर्माण में जिस स्तर की क्षमता, योग्यता, पूँजी एवं तत्परता की आवश्यकता होगी, वह स्वभावतः नारी में ही प्रचुरतापूर्वक मिलेगी । इसलिये मर्माहत पुरुष को कसक कराह के साथ विश्राम करने देकर नारी ही आगे बढ़ेगी और वही पुररुत्थान की परिस्थितियों का सृजन करेगी । समय–समय पर ऐसा होता भी आया है । पुरुष आध्यात्मवादियों की सफलताओं के पीछे प्रधान भूमिका नारी की ही रही है । वह सहयोग ख्याति भले ही न प्राप्त कर सकी हो, पर तथ्य की दृष्टि से यही सुनिश्चित है कि आत्म–बल के उपार्जन में किसी भी पुरुष को अद्‌भुत सफलता में असाधारण सहयोग किन्हीं नारियों का ही रहा है ।

राम की महिमा का श्रेय सीता और कौशिल्या को कम नहीं है । कौशिल्या के प्रशिक्षण तथा सीता के सहयोग को यदि हटा दिया जाय तो राम का वर्चस्व फिर कहाँ रह जायेगा ? सीता के बिना राम का चरित्र ही क्या रह जाता है ? उनकी सारी गतिविधियों के पीछे सीता ही आच्छादित है । कृष्ण की बाँसुरी में राधा ही रहती थी । देवकी और यशोदा का वात्सल्य कुन्ती का प्रोत्साहन और आशीर्वाद, द्रौपदी की श्रद्धा, गोपियों का स्नेह इन सब तत्वों ने मिलकर कृष्ण के कृष्णत्व की

पूर्ति की थी । इन उपलब्धियों के अभाव में बेचारे कुछ कर पाते या नहीं इसमें संदेह ही रहता ।

बुद्ध का आध्यात्मिक प्रशिक्षण उनकी मौसी द्वारा सम्पन्न हुआ था । तपस्या के बाद लौटे तो उनकी पत्नी यशोधरा भी अनुगामिनी होकर आयी । अम्बपाली के आत्मसमर्पण के उपरान्त तो भगवान् का प्रयोजन हजार गुनी गति से तीव्र हुआ । प्रतिभाशाली व्यक्तित्व जहाँ आते हैं वहाँ किसी भी दिशा में अभिवृद्धि होती है । पाण्डवों की महान् भूमिका में द्रौपदी का 'रोल' अत्यन्त प्रभावी है । एक नारी के द्वारा पाँच नर–रत्नों को प्रचुर बल प्रदान किया गया, यह नारी शक्ति भाण्डागार का चिन्ह है । मदालसा ने अपने सभी पुत्रों को अभीष्ट दिशा में सुसम्पन्न किया था । एक नारी असंख्य मानव प्राणियों को नर से नारायण बनाने में समर्थ हो सकती है । उसकी भावनात्मक सृष्टि इतनी परिपूर्ण है कि कृष्ण का सामयिक अस्तित्व न होने पर भी मीरा ने उन्हें पति रूप में साथ रहने और नाचने के लिये मूर्तिमान कर लिया था ।

प्राचीन काल के तपस्वी, तत्वदर्शी एवं महामनीषी ऋषियों में प्रत्येक सपत्नीक था । ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवताओं की पत्नियाँ, सरस्वती, लक्ष्मी, काली आदि उनके वर्चस्व को स्थिर रखने में आधार स्तम्भ की तरह हैं । नारी के रमणी रूप की ही भर्त्सना की गयी है अन्यथा उसकी समग्र सत्ता गंगा की तरह पवित्र, और अग्नि की तरह प्रखर है । पिछले दिनों भारतीय राजनैतिक क्रान्ति का नेतृत्व करने में एनी बेसेन्ट की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । लक्ष्मीबाई, सरोजिनी नायडू आदि कितनी ही महिलायें इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम कर चुकी हैं । इस क्रान्ति युग की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में जिन महामानवों ने गुप्त किन्तु अद्भुत पुरुषार्थ किया है उनमें रामकृष्ण परमहंस और योगी अरविन्द मूर्धन्य हैं । दोनों को नारी का शक्ति सान्निध्य प्राप्त था । परमहंस के साथ महायोगिनी–भैरवी तथा पत्नी शारदामणि और अरविन्द के साथ माताजी का जो अनुपम सहयोग हुआ उसी के बलबूते पर वे लोग अपनी महान् भूमिका सम्पादित कर सके । ऐसे असंख्य उदाहरण भारत तथा विदेशों में विद्यमान हैं जिनसे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में, भावनात्मक उपलब्धियों में, नारी का वर्चस्व प्रधान है और इसी के सहयोग से नर को

इस दिशा में महान सफलता मिली हैं । शिव की छाती पर शक्ति का खड़े होना इसी तथ्य का उद्‌घाटन करता है कि अन्य क्षेत्रों में न सही कम से कम आत्मबल की दृष्टि से तो नारी की गरिमा असंदिग्ध है ही ।

भावी नव–निर्माण निकट है । उसकी भूमिका में नारी का योगदान प्रधान रहेगा अगले ही दिनों कितनी ही तेजवान् नारियाँ अपनी महान महिमा के साथ वर्तमान केंचुल को उतार कर सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करेंगी और उनके द्वारा नव–निर्माण अभियान का सफल संचालन सम्भव होगा । भावी संसार में, नये युग में हर क्षेत्र का नेतृत्व नारी करेगी । पुरुष ने सहस्राब्दियों तक विश्व नेतृत्व अपने हाथ में रखकर अपनी अयोग्यता प्रमाणित कर दी । उसकी क्षमता विकासोन्मुख नहीं विनाशोन्मुख ही सिद्ध हुई । अब वह नेतृत्व उसके हाथ से छिन कर नारी के हाथ जा रहा है । हमें उसमें बाधक नहीं सहायक बनना चाहिये । खिन्न नहीं प्रसन्न होना चाहिये । विरोध नहीं स्वागत करना चाहिये । भावी परिस्थितियों के अनुकूल हमें ढलना चाहिये । इसी का संकेत उस चित्रण में सन्निहित है, जिसमें महाकाल की छाती पर महाकाली की प्रतिष्ठापना प्रदर्शित की गयी है । ●

उद्धत दक्ष की मूर्खता और सती की आत्महत्या

राजा दक्ष चतुर बहुत थे, उनकी चतुरता इतनी प्रसिद्ध हो गयी थी कि लोग उनके इस गुण के कारण ही असली नाम भूलकर 'दक्ष' अर्थात् 'चतुर' नाम से पुकारने लगे । तप, त्याग, के बलबूते नहीं, वे चतुरता के द्वारा ही ऊँचे पद पर पहुँचे थे । चतुरता परमार्थ प्रयोजन में लगे तो ही श्रेयस्कर है अन्यथा वह अनुपयुक्त दिशा में लगने पर संसार के लिये एक झंझट बन जाती है । इससे कुकर्मी चतुरों की तुलना में भले–भोले मूर्खों को मुक्त कण्ठ से सराहा जाता है । जड़–भरत व्यवहार में बुद्धू थे, फिर भी उनका अन्तःकरण निर्मल था, उद्‌देश्य ऊँचा था अतएव उन्हें महान ऋषियों की गणना में गिना जाता है । दक्ष को प्रजापति का–शासक का उत्तरदायित्व मिल गया था, पर वे उस योग्य थे नहीं ।

दक्ष ने एक यज्ञानुष्ठान किया उसमें उनकी पुत्री सती बिना बुलाये भी आयी और उनने पिता को वह करने के लिये–उस मार्ग पर चलने के लिये कहा, जो उनके लिये शोभनीय था । दक्ष न माने अपने ही रास्ते चलते रहे । सती को मार्मिक आघात लगा और उनने आत्महत्या कर ली ।

मनुष्य में चातुर्य बहुत है । इसी से तो वह सृष्टि का मुकुटमणि बना हुआ है । इस चातुर्य का उपयोग जब वह संकीर्ण एवं घृणित स्वार्थों की पूर्ति में निरंकुश होकर करता है, तो उसका निज का भी और समस्त समाज का भी घोर अहित होने लगता है । आत्मा उसे रोकती है, मनुष्यता की सीमा में रहने की पुकार करती है, पर जब अहंकारी जीव नहीं मानता अपनी दक्षता की धुन में किसी की नहीं सुनता, तो उद्धत आचरण से क्षुब्ध आत्मा एक प्रकार से नैतिक आत्हत्या कर बैठती है । सामाजिक दृष्टि से ऐसा उद्धत आचरण मनुष्यता को आत्म–हत्या करने के लिये विवश करता है । दक्ष के उद्धत आचरण से क्षुब्ध उसकी पुत्री सती ने आत्म–हत्या कर ली । पुराणों में ऐसा वर्णन मिलता है ।

सती, दक्ष की पुत्री थी पर विवाही भगवान शंकर को थी । सती अर्थात् सत् प्रवृत्ति, अर्थात्–नैतिकता, प्रबुद्धता, विवेकशीलता मनुष्यता । कल्याणकर्त्ता भगवान् शंकर उसे प्राणप्रिय रखते थे । उसी के साथ उनका आनन्द जुड़ा हुआ था । सती शिव की अर्द्धांगिनी बनी हुई थी । अर्ध नारी नटेश्वर–शिव के शरीर का आधा भाग नारी और आधा नर जैसा चित्रित किया जाता है । इसका अर्थ है कि 'सती' (सत्वृत्ति) उनके अस्तित्व में इतनी अधिक घुली हुई है कि दोनों की सत्ता और महत्ता एक ही मानी समझी जा सकती है । सत् है वही शिव है । जो सत्प्रवृत्ति है वही भगवती है । सत्य ही नारायण है । मनुष्यता को भगवान् का प्रिय प्रत्यक्ष रूप कहा जाय तो यह उचित ही है । सती और शिव का जोड़ा ऐसा ही था ।

भागवान् शिव को जब यह पता चला कि दक्ष की उद्धतता इस सीमा तक बढ़ गयी है कि उनकी प्राणप्रिया सती को आत्महत्या करनी पड़ी है तो उनके क्षोभ का बारापार न रहा । वे सती के बिना रह नहीं सकते थे । सत्यवृत्ति को, मनुष्यता को, जिस चतुरता–दक्षता के कारण

आत्महत्या करने को विवश होना पड़े उसके प्रति समर्थ शंकर को कुपित होना ही चाहिये । शिवजी ने अपने प्रतिनिधि स्वरूप वीरभद्र को काली, भैरव, नन्दी आदि गणों के साथ दक्ष की माया नगरी विध्वंस करने का आदेश दिया । वहाँ पहुँचते-पहुँचते उन गणों ने दक्ष और उसके स्वार्थी, पक्षपातियों का कचूमर निकाल कर महाविनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया । दक्ष की नगरी वीरभद्र ने तोड़-फोड़ कर रख दी । भैरव ने प्रजापति के समर्थक सहयोगियों की बड़ी मिट्टी खराब की । नन्दी ने शासन श्रृंखला के सूत्रों को तोड़-फोड़ कर फेंक दिया । दक्ष की चतुरता धूल में मिल गयी । उसकी चिरसंचित कमाई देखते-देखते चूर्ण-विचूर्ण हो गयी । शंकर ने दक्ष को उसकी कुमार्गगामिता का छद्मवेश हटाकर वस्तुस्थिति का प्रकटीकरण करने की दृष्टि से इतना दण्ड देना आवश्यक समझा कि उसका मानवीय सिर काट कर बकरे का चिपका दिया । दक्ष का, चतुरता का वास्तविक स्वरूप यही था । वह हर घड़ी मैं-मैं बखानता था और वाचालता से प्रभावित कर लोगों को भुलावे में डालता था । यही दोनों गुण बकरे में होते हैं । वह हर घड़ी मैं-मैं की रट लगाता है और अनर्गल शब्दोच्चारण की आदत से अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित करता है ।

आज भी 'दक्षों' ने यही कर रखा है । वे तथाकथित चतुर लोग-समाज के मूर्धन्य बने बैठे व्यक्ति चतुरता तिकड़म को ही अपना आधार बनाये हुए हैं दूसरों के सहारे वे छल-बल से आगे बढ़े-ऊँचे उठे हैं । तप और त्याग का नाम भी नहीं, ऐसे मूर्धन्य लोगों का बाहुल्य व्यक्ति और समाज की आत्मा को कुचल-मसल रहा है । इससे मनुष्यता आत्म-हत्या जैसी स्थिति में जा पहुँचती है । यह स्थिति महाकाल को असह्य है । सदाचरण में ही भगवान् के संसार की शोभा है । वे हरी-भरी फली-मानवता में ही मोद मनाते हैं । यह सती ही उसकी सहचरी है । इसे जो आघात पहुँचाता है वही भगवान का बड़ा शत्रु है । स्थिति जब असह्य हो जाती है, तब महाकाल को अपना ध्वंस शस्त्र प्रयुक्त करना पड़ता है । दक्ष की सारी शासन सत्ता विधि व्यवस्था नन्दी गणों ने देखते-देखते विध्वंस के गर्त में फेंक दी थी । आज का मानवीय

चातुर्य–जो सुविधा साधनों की अभिवृद्धि के अहंकार में–अपनी वास्तविक राह छोड़ बैठा है, उसी दुर्गति का अधिकारी बनेगा जैसा कि दक्ष का सारा परिवार बना था ।

मृत सती की लाश को कंधों पर रख कर रुद्र उन्मत्तों की तरह विचरण करने लगे । उनके शोक का बारापार न था । ऐसा विकराल और रुद्र रूप देख दशों दिशायें काँपने लगीं । सती के–सत्प्रवृत्ति के न रहने की स्थिति उन्हें असह्य थी । आपे से बाहर होकर वे हुँकारें भरने लगे । उनके श्वांस–प्रश्वांस से अग्नि की भयानक लपटें निकलने लगीं । उनचासों पवन, आँधी, तूफान बनकर स्थिति को प्रलय में बदलने का आयोजन करने लगे ।

देवता काँपे । स्थिति विषम हो गयी । विचार हुआ । सृष्टि के पालक और पोषक विष्णु आगे आये । उन्होंने चक्र सुदर्शन से सती के मृतक शरीर को ग्यारह हिस्सों में काट दिया । वे टुकड़े दूर–दूर फेंके गये । सती मर तो सकती नहीं, वे अमर हैं । आत्म–हत्या की थी पर उनकी सत्ता नष्ट कैसे होती । यह ग्यारह टुकड़े जहाँ भी गिरे वहाँ एक एक शक्ति–पीठ की स्थापना हुई । संसार में ग्यारह शक्तिपीठ प्रसिद्ध हैं । हर जगह एक नयी सती उत्पन्न हुई । शिव अपनी सहधर्मिणी को, ग्यारह गुनी विकसित पाकर सन्तुष्ट हो गये और ग्यारह रुद्रों के रूप में पुनः आनन्द पूर्वक अपने नियत नियमित कार्य में लग गये । १ और १ के अंक समीप आ जाने से ११ बन जाते हैं । शिव और सती का–परमात्मा और सत्प्रवृत्ति का सुयोग जब कभी भी–जहाँ कहीं भी–होगा वहीं एक और एक मिलकर ग्यारह होने की उक्ति चिरतार्थ होती है । शिव सती का सौम्य समन्वय एकादश शक्ति पीठ और एकादश रुद्रों का आनन्द उत्पन्न करता हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

पौराणिक गाथा की पुनरावृत्ति उसी घटना–क्रम के साथ फिर सामने आ रही है । दक्षों ने हर क्षेत्र के नेतृत्व पर अपना आधिपत्य किया हुआ है । समाज के मूर्धन्य बने व्यक्ति न अपना व्यक्तित्व उत्कृष्ट बना रहे हैं और न आदर्शवादिता की प्रवृत्ति बढ़ने दे रहे हैं । जन–साधारण बड़ों की देखा–देखी हेय स्तर पर अधःपतित होता चला जा रहा है । मनुष्यता मर

रही है । सत्प्रवृत्तियाँ मूर्छित पड़ी हैं । लगता है सती ने आत्म–दाह कर लिया है । यह स्थिति महाकाल को असह्य है, उनकी सारी प्रसन्नता सती के साथ–सत्प्रवृत्ति के साथ जुड़ी हुई है । इस आत्महत्या के लिये जो भी दोषी होंगे उन्हें रास्ते पर लाने के लिये कड़ा पाठ पढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है तो रुद्र उसकी व्यवस्था करना भी जानते हैं । उनके भैरव, वीरभद्र और नान्दीगण उथल–पुथल और तोड़–फोड़ कला में प्रवीण हैं । सम्भवतः अशान्ति से शान्ति उत्पन्न करने का प्रकरण फिर दुहराया जाय । महायुद्ध–गृहयुद्ध, प्रकृति प्रकोप जैसे वीरभद्र सम्भवतः मनुष्य को कुमार्ग पर जा रही दक्षता को पुनः पीछे लौटने और रास्ते पर लगने के लिये विवश करें । सम्भव है आज जिस अनैतिक चतुरता को सर्वत्र सराहा जाता है कल उसी को बकरे के मुँह वाली बकवासी, अहंकारी बताकर तिरस्कृत और बहिष्कृत किया जाय ।

आज अनैतिक चतुरता ने समस्त समाज को अस्त–व्यस्त और त्रस्त कर दिया है, जो हरकतें न्याय–नीति की दृष्टि से स्पष्टतः घृणित और निन्दनीय हैं, वे ही खुले आम दुहराई जा रही हैं और जनता तथा सरकार दोनों उसका निराकरण करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं । मालूम होता है कि इस उच्छृंखलता को मिटाने के लिये दैवी शक्ति को ही कोई योजना करनी पड़ेगी ।

महाकाल का विक्षोभ एक ही तरह शान्त हुआ था–एक ही तरह शान्त हो सकता है, उनकी प्राणप्रिय सती को पुनः पुनर्जीवित किया जाय । सती के शव से एकादश सतियाँ प्रादुर्भूत हुई थीं, ग्यारह शक्ति पीठ बने थे । हम मानवता के उन्नायक अगणित शक्ति केन्द्र ऐसे स्थापित करें जो भगवान् शिव के संसार को सुरम्य, सुविकसित और सुसंस्कृत बनाये रखने में समर्थ हो सकें । रुद्र कोप से बचने का यदि कोई समाधान होगा तो वह उसी स्तर का होगा जैसाकि उपरोक्त पौराणिक उपाख्यान के अनुसार अतीत काल में होकर चुका है ।

रावण का असीम आतंक अन्ततः यों समाप्त हुआ

एक नगरी थी लंका । जिसका राजा था अहंकार, प्रपंच, स्वार्थ और वासना का प्रतिनिधि–रावण । रावण की नीति थी–अपने असीम स्वार्थों की असीम पूर्ति और उसके लिये हर किसी का उत्पीड़न । उदारता उसके पास नाम को भी न थी । अपने सारे शरीर–बल, बुद्धि–बल और परिवार–बल का उपयोग वह दूसरों को आतंकित करने और मनमानी बरतने में करता था । इस प्रकार की अनीति का मार्ग अवलम्बन करने वाले आरम्भ में फूलते–फलते भी देखे गये हैं । रावण भी खूब फूला–फला था । उसका कुटुम्ब परिवार बढ़ा । कहते हैं कि एक लाख पूत और सवा लाख नाती उसके थे । यह तो उसका निजी परिवार था । एक से एक बड़े मायावी साथी उसके थे ।

त्रिजटा जो अनेक रूप बना सकती थी, मारीच जो अनेक वेष बदल सकता था, कुम्भकरण जिसके योजनों लम्बे नाक–कान थे, दूर की बातों को सूँघ, सुन सकता था, मेघनाद, खरदूषण, सुबाहु आदि अगणित पराक्रमी उसके साथ थे । आतंकवादी के साथी कितने ही हो भी जाते हैं । इस सहयोग, साझीदारी में ही दुष्ट दुरात्माओं को लाभ दिखाई पड़ता है । सो रावण का परिवार बढ़ा और देखते–देखते लंका सोने की बन गयी । लंका में वरुण पानी भरते थे, पवन बुहारी लगाते थे, अग्निदेव भोजन पकाते थे । निदान सभी देवता बन्धन में बँधे विवश उसकी नगरी की सेवा सुश्रूषा में जुटे रहने लगे । संसार में सर्वत्र रावण और उसकी नगरी की ख्याति फैल गयी । सर्वत्र अन्धकार छा गया । लोग इस आतंक से दुःखी तो बहुत थे पर उपाय सूझ न पड़ता था । निराशा छाई हुई थी । दुर्दैव को कोसने के अतिरिक्त किसी से कुछ बन न पड़ रहा था ।

अविवेक को उद्धत आचरण करने का अवसर मिलता है और वह सफल होता चलता है तो उसका आतंक फैलना स्वाभाविक है । आतंक के आगे दुर्बल नतमस्तक होने में अपनी खैर मनाते हैं और दुष्ट उसमें सम्मिलित रह कर साझेदारी का अधिक लाभ पाने की नीति अपनाते हैं ।

व्यक्ति हो चाहे तथ्य, चलते इसी मार्ग पर हैं । फलतः अनाचार का रावण जब भी अवसर मिलता है अपना साम्राज्य व्यापक बना लेता है । मायावी साथियों की इसे कमी नहीं रहती । सोना खिंच-खिंच कर उन दुरात्माओं की नगरी-केन्द्र भूमि में ही इकट्ठा होने लगता है । पूँजीवाद की बढ़ोत्तरी साधारण जनता को जर्जर करके रख देती है । यही रावण-राज्य का स्वरूप है । वह ऐतिहासिक भी हो सकता है और तथ्यात्मक भी । त्रेता युग के रूप में वह आज भी जीवित है । अविवेक जन्य अनाचार की तूती आज भी बोल रही है । व्यक्ति और समाज सभी उसके आतंक राज्य में नतमस्तक खड़े हैं ।

बुद्धिवादी और समर्थ लोगों ने इसका विरोध करके अपने को झंझट में डालने की अपेक्षा साझेदारी का रास्ता अपना लिया है । एक-से एक बड़े मायावी मारीच और खरदूषण इस आतंक राज्य में सम्मिलित हो गये हैं । प्राचीन काल में रावण राज एक शासन तंत्र में केन्द्रीभूत था । आज उसने बौद्धिक विकृति का रूप धारण कर जन-मानस को सम्मोहित और आतंकित किया है । लोगों के सोचने और करने की दिशा उसी ओर बह रही है-जिस ओर वह उद्धत अविवेक अपनी सफलताओं का दर्प दिखाता हुआ-बहने और चलने के लिये विवश करता है । स्वतंत्र विवेक को लोग खो बैठे हैं, अनुपयुक्त ढर्रे की लकीर पर अपना जीवन रथ चला रहे हैं फिर वह चाहे दुर्गति के गर्त में गिरने ही क्यों न जा रहा हो । आज की भावनात्मक नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के मूल में लगता है अमूर्त रावण का ही आतंक राज्य प्रतिष्ठापित हो रहा है । सोने की नगरी-लंका हर किसी का लक्ष्य बनी हुई थी । धन के वैभव के अतिरिक्त और किसी की कुछ चाह है ही नहीं । प्रकाश का उपहास करने वाले-अन्धकार में सुख-सन्तोष मनाने वाले निशाचरों की सेना वर्षा के उद्भिजों की तरह दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही हैं । इन परिस्थितियों में मानवता को संत्रस्त होना ही पड़ेगा, दुःख दारिद्र्य और शोक संताप ही तो रावण राज्य की उपलब्धियाँ हैं ।

मनुष्य मूर्ख तो है, पर विचारशून्य नहीं । लोगों में से डरपोक तो बहुत हैं पर साहस और शौर्य का सर्वथा अन्त कभी नहीं होता । स्वार्थियों

और संकीर्ण स्तर वालों का बाहुल्य सदा रहा है, पर लोक–मंगल को जीवन का लक्ष्य बनाने वाले सत्पुरुषों से धरती माता की गोदी सर्वथा सूनी नहीं होती । व्यक्ति और समाज की दुर्दशा से क्षुब्ध होने वाले और उन विकृतियों का सुधारात्मक उन्मूलन करने के लिये ऐसी अन्धेरी परिस्थितियों में ज्योति किरण की तरह कुछ आत्मायें जन्मती हैं और उस विपन्नता से जूझ पड़ती हैं । साधन स्वल्प होते हुए भी वे सदुद्देश्य का समर्थन करने के कारण दैवी शक्ति का अनुग्रह प्राप्त करती हैं और अन्ततः लोग साधनहीन विवेक को विजयी और साधन सम्पन्न अविवेक को परास्त हुआ देखते हैं ।

ऐसा ही रावण काल में भी हुआ । लोक–मंगल में अभिरुचि रखने वाले बुद्धिजीवी, ऋषि मुनि–एकत्रित हुए और उनने विचार किया कि विश्व वसुधा को शोक संताप में डुबा देने वाली इस विपन्न परिस्थिति का अन्त कैसे हो ?

सब ने एक मत से स्वीकार किया कि सत्पुरुषों की सम्मिलित शक्ति, महाकाली ने ही आदि काल में असुरता से लोहा लिया था और वही अब रावण युग का अन्त करने में समर्थ होगी । उन्हें पता था कि एक समय जब असुरता से परास्त देवताओं के पास आत्म–रक्षा का कोई उपाय शेष न रहा, तो वे प्रजापति की शरण में गये थे । प्रजापति ने सब देवताओं की थोड़ी–थोड़ी शक्ति को लेकर इकट्ठा किया, उस सामूहिक शक्ति–पिण्ड में प्राण फूँका तो भगवती दुर्गा–महाकाली प्रकट हुई थी । उसने अपनी हुँकार से दशों दिशाओं को कँपा दिया और असुरों को लड़ने के लिये ललकारा । 'असुर लड़ने आये तो महिषासुर (अहंकार) मधु-कैटभ (लोभ) और शुम्भ–निशुम्भ (व्यामोह) तीनों ही दुर्दान्त दैत्यों को उस महाशक्ति के हाथों प्राण गँवाने पड़े थे । एकत्रित ऋषियों ने कहा अब भी वही स्थिति है और वही उपाय । व्यापक असुरता से एक–एक करके लोहा नहीं लिया जा सकता । उसे हटाना मिटाना हो तो सम्मिलित संगठित शक्ति का आयोजन करना होगा ।

मत निश्चित हुआ । हर प्रबुद्ध व्यक्ति ने अपना–अपना रक्त, अपना–अपना योगदान दिया और उस अगणित रक्त बिन्दुओं से भरे घड़े

को जमीन में गाढ़ दिया गया । घड़ा पकता रहा, जब उसमें सजीव महाशक्ति महाकाली–परिपूर्ण रूप में बनकर तैयार हो गयी, तो प्रश्न आया इसे सम्भाले कौन, इसका उद्घाटन कौन करे ? उपयुक्त व्यक्ति की तलाश की गयी, तो वह निकले–राजा जनक । कर्मयोगी–ब्रह्मज्ञानी जनक राजा तो थे, पर रोटी अपना पसीना बहाकर, खेती करके कमाते थे । प्रजा की सेवा तो करते थे पर उससे पारिश्रमिक नहीं लेते थे । सम्पत्ति तो क्या देह को भी अपना न मानते थे और जो कुछ उनके पास था उसे जनता की सम्पत्ति मान कर चलते थे इसलिये लोग उन्हें विदेह भी कहते थे । ऐसे ही नर–रत्न महाक्रान्ति के सफल संचालक, पोषक एवं पिता, प्रणेता बनने के अधिकारी हो सकते हैं । कथा है कि जनक जब कृषि कर्म में निरत थे तो हल की नोंक से वह घड़ा टकराया और उसमें से बैठी कन्या बाहर निकली । जनक ने उसे उठाया और छाती से लगा लिया । उसका नाम रखा–सीता । हल की नोंक को संस्कृत में सीता कहते हैं । हल की नोंक से हलवाहे और श्रमिक ने जिसे उगाया–उपजाया हो उस युग प्रवृत्ति का सीता के नाम से सर्वसाधारण ने परिचय पाया ।

सीता जनक के घर में पली, खेली और बड़ी हुई । अब वह विवाह योग्य हो चली थी । जनक इस विचार में मग्न थे कि इसका विवाह किस वर्ग के, किस प्रकृति के, किस योग्यता के, किस स्तर के व्यक्ति से किया जाय ? इतने में सीता ने इशारे में अपने पिता के सम्मुख वह हल उपस्थित कर दिया । जनक के घर महाकाल शिव का एक पुराना धनुष सुरक्षित रखा था । सीता ने उसे एक घर के कोने से उठाकर दूसरे कोने में रख दिया । मानों पिता को संकेत किया हो कि अब धनुष के प्रयोग का, सार्वजनिक संघर्ष का समय आ गया । कोई ऐसा धनुर्धर ढूँढ़ा जाय जिसका स्तर, साहस और आत्म–बल महाकाल के इस महाविनाशक अस्त्र को धारण कर सकने योग्य हो । उस युग की यही तो सबसे बड़ी आवश्यकता थी । उसे जो पूरा कर सके वही तो महाशक्ति को धारण एवं वरण कर सकता है । वह अनादि काल में ही अपनी पसन्दगी घोषित कर चुकी है–

यो मां जयति संग्रामे, यो मे दर्पो व्यमोहति ।
यो मे विजयते लोके, स मे भर्ता भविष्यति ।।

अर्थात् जो मुझे संग्राम में जीते जो मेरा दर्प सम्भाले, जो विजयी करने की क्षमता रखे, वही मेरा पति होगा । महाशक्ति सीता को जो धारण कर सके और शिव पिनाक को उठाकर असुरता के विरुद्ध उस पर शर सम्भाल सके ऐसा वर ढूँढ़ा जाय । निदान स्वयंवर रचाया गया । राम इस कसौटी पर खरे उतरे । दूसरे विवाहेच्छुक वैभवशाली तो बहुत थे पर उनमें राम जैसा आत्म-बल न था, अतएव इतना बड़ा उत्तदायित्त्व उठाने में समर्थ न हो सके । राम ने शिव धनुष उठा लिया । सीता की विजय माला उन्हीं के गले में पड़ी । शक्ति और शिव का द्वैत मिटकर जब अद्वैत हो गया तब इस काल धारा का प्रवाह फूटा जो युग परिवर्तन के लिये अभीष्ट था ।

राम सीता का विवाह गृहस्थोपयोग के लिये नहीं, किसी प्रयोजन के लिये-एक अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित कर समय की महती आवश्यकता सम्पन्न करने के लिये हुआ था । सो कुछ ही दिन बाद परिस्थितियों ने मोड़ ले लिया । वनवास की तैयारियाँ हुईं और सीता समेत राम-लक्ष्मण वनवास के लिये चल दिये । सीता हरी गयी और वे लंका पहुँचीं । उनका पदार्पण लंका की काया पलट करने के लिये था । वहाँ आतंक का उद्गम बदलकर ज्ञान और भक्ति के प्रतीक विभीषण को प्रतिष्ठापित किया जाना था । भगवती ने इसी के लिये अभीष्ट परिस्थितियाँ विनिर्मित कीं । सिया हरण न होता तो शायद लंका का कायाकल्प भी न हो पाता । राम ने संस्कृति-सीता के अपहरण को असह्य माना और वे दुर्दान्त रावण को परास्त करने के लिये कटिबद्ध हो गये ।

राम के पास कोई सेना नहीं थी । परदेश में मामूली-सा धनुष वाण लिये दोनों भाई वनवासी की तरह घूम रहे थे । आतंक के विरुद्ध न लड़ने के लिये साधन थे, न सुविधा, न परिस्थिति थी, न व्यवस्था । पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और अकेले अपने मार्ग पर बढ़ चले । सचाई और न्याय का लोग समर्थन तो करना चाहते हैं, पर तब, जब किसी पर्वत जैसे ऊँचे, भारी और सुदृष्ट व्यक्तित्त्व का नेतृत्व मिले । राम इन्हीं

विशेषताओं के प्रतीक थे । उन्होंने समर्थ लोगों में अपने महान अभियान का संदेश पहुँचाया और सहयोग की याचना की, पर न तो एक भी भूपाल काम आया और न धनपति । वे तो विजयी के साथ होते हैं क्योंकि उन्हीं की सहायता से उन्हें लाभ रहता है । दुर्बल दीखने वाले को सहायता देने में उन्हें अपना भौतिक लाभ तो दीखता नहीं, ऐसी दशा में घाटे का सौदा करें भी क्यों ? अमीरी अपना बचाव पहले देखती है । सत्य और न्याय से उसे सहानुभूति भले ही हो पर सहायता तो सफल और समर्थ की ही करना लाभदायक होता है । इस प्रत्यक्ष तथ्य की वह उपेक्षा कैसे करें ? सो राम की पुकार व्यर्थ चली गयी । एक भी समर्थ जन को उनका साथ देने का साहस नहीं हुआ ।

राम ने गरीबों का द्वार खटखटाया और उन्हें बताया कि थोड़ी-सी सुविधायें भोगते हुए आराम की निर्जीव जिंदगी काटने की अपेक्षा अधर्म से लड़ने और धर्म को प्रतिष्ठापित करने के ईश्वरीय प्रयोजन में सहयोग देते हुए मर जाना श्रेयस्कर है । मजेदार जिन्दगी की तुलना में शानदार जीवन उत्तम है । सो यह बात रीछ-वानरों की समझ में आ गयी । भले और भोले लोग चतुर और समर्थ लोगों की अपेक्षा ईश्वर के अधिक निकट होते हैं, सो ईश्वरीय सन्देश उन्हीं को प्रभावित करता है । रीछ-वानरों ने घर, शरीर और सुविधाओं का मोह छोड़ा और वे सच्चे सूरमाओं की तरह निहत्थे होते हुए भी युग दानव के विरुद्ध संघर्ष में कूद पड़े । दीखता यही था कि शायद इतना बड़ा आतंक पराजित न हो सके, शायद हम साधन विहीन लोग ही इस संघर्ष में खेत रह जायें, पर उनकी आत्मा ने कहा-न्याय और औचित्य के लिये लड़ने का प्रयत्न अपने आप में एक बहुत बड़ी विजय है, इस संघर्ष का हर कदम धर्म सैनिक की सफलता है । भौतिक विजय या पराजय के झंझट में क्यों पड़ा जाय ?

राम-रावण का ऐतिहासिक युद्ध होने की तैयारी हो गयी । बाधाओं का सेतु बाँधना था । नल-नील ने रीछ, वानरों की सहायता से पत्थर के टुकड़े जुटाये और जल पर तैरने वाला पुल बनाने की तैयारी की । भगवान् राम ने कहा-भौतिक साधन तो जुटाने ही चाहिये पर परिवर्तन के देवता महाकाल को भी साथ ले लेना चाहिये । क्योंकि सूक्ष्म रूप में उन्हीं

की शक्ति बड़े प्रयोजन को सम्पन्न करती है । सच तो यह है कि हम सब उन्हीं की प्रेरणा से इतना दुस्साहस कर सके हैं और आगे उन्हीं के संकेतों पर चलते हुए अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करेंगे । सेतुबन्ध के स्थान पर भगवान राम ने अपने ईश्वर मार्ग–दर्शक रामेश्वर–महेश्वर–महाकाल की प्रतिष्ठापना की और आराधना अर्चा के साथ आत्म–समर्पण करते हुए कहा–"हे महान् ! आपकी इच्छा पूर्ण हो, हम सब आपकी भ्रकुटि संकेतों पर बलिदान होने के लिये खड़े हैं ।" महेश्वर ने उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा–"मेरा प्रयोजन पूर्ण करने में संलग्न बालको ! तुम्हें श्रेय मिलेगा, यशस्वी होगे और उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह अनन्त काल तक चमकोगे । मेरी विजय, तुम्हारी विजय गिनी जायगी । महाकाल के आशीर्वाद ने राम दल का साहस सैकड़ों गुना बढ़ा दिया ।

बूढ़ा जटायु जानता था कि मेरी शक्ति स्वल्प है, रावण से जूझने का क्या परिणाम हो सकता है, यह भी उसे विदित था, फिर भी उसने सोचा जीवन की इससे बड़ी सार्थकता और सफलता दूसरी नहीं हो सकती कि उसका उपयोग न्याय–धर्म की रक्षा करने और लोकमंगल के अभिवर्धन में हो सके । इस अनुपम अवसर को वह दूरदर्शी चूकने वाला न था, सो रावण से लड़ पड़ा और मारा गया । हो सकता है किसी कायर पर इसका बुरा असर पड़ा हो और कुछ उमंग उठ रही हो तो इस प्रकार की हानि उठाने से बचने के लिये डर कर अपना हौसला खो बैठा हो । पर दुनियाँ में सभी तो डरपोक नहीं हैं, कुछ ऐसे भी हैं जिनका शौर्य अवसर आने पर ही उभरता है । जटायु जैसी यशस्वी मौत पाने के लिये अनेकों दिल वालों के दिल छाती की ठठरी में छिपे रहने की अपेक्षा बाहर निकल कर दो–दो हाथ दिखाने और कुछ कर गुजरने के लिये मचलने लगे ।

इन्हीं दिल वालों में से थी–एक गिलहरी । उसने सोचा मैं बहुत छोटी जरूर हूँ–साधन विहीन भी, पर इससे क्या आखिर मैं कुछ तो हूँ ही और जो कुछ वह है उसे लेकर लोक मंगल के लिये, आत्म बलिदान करने के लिये मातृ मन्दिर में जा पहुँचने का अधिकार हर किसी को है–सो मैं ही क्यों सकुचाऊँ । जितना ईश्वर ने दिया है उसी को लेकर उसके आगे

आत्म-समर्पण क्यों न करूँ ? गिलहरी को एक सूझ आई । वह अपने बालों में धूलि के थोड़े से कण भर ले जाती और समुद्र में छिड़क आती । उसका यह अनवरत श्रम देखकर-देखने वालों ने हैरत में भरकर उससे पूछा-"आखिर यह सब क्यों कर रही हो, इसका क्या परिणाम होने की आशा है ।"

गिलहरी ने कहा-"राम समुद्र पार जाकर रावण से लड़ने खड़े हैं । नल, नील समुद्र पर पुल बनाने में जुटे हैं, हनुमान समुद्र को छलाँग चुके, फिर क्या इस बाधा के सागर को पाटने में मेरा कोई योगदान न होना चाहिये ? छोटी हूँ तो क्या, बालों में थोड़ी बालू भरकर समुद्र में डालती रहूँगी तो आखिर इस बाधाओं के सागर को कुछ तो पाटा ही जा सकेगा । इस छोटे से प्रयत्न से कितने समय में क्या परिणाम होगा, यह सोचना मेरा काम नहीं । सचाई के समर्थक एक ही बात जानते हैं-जो अपने पास है उसे लेकर आगे बढ़ना और निष्ठापूर्वक सतत् संघर्ष में अपनी अन्तिम बूँद समर्पित कर देना । सो ही तो मैं कर रही हूँ ।"

बहस आगे नहीं बढ़ी । पूछने वाले को उसी के एक साथी ने यों कहकर चुप कर दिया कि-'उस टिटहरी की कथा याद करो, जिसने अपने अण्डे बहा ले जाने के अपराधी समुद्र से लोहा लिया था और चोंच में बालू भरकर उसे पाटने का दुस्साहस किया था । जानते नहीं ऐसे दुस्साहसी भगवान का सिंहासन हिला देते हैं और उनकी सहायता में उन्हें नंगे पैरों आना पड़ता है । टिटहरी के समर्थन में अगस्त ऋषि आये थे और उनने तीन चुल्लू में सारा जल पीकर अभिमानी समुद्र को इस बात के लिये विवश किया था कि अपने अनीति भरे कदम वापस ले ले । जीत जब टिटहरी की ही रही, तो यह गिलहरी अपने लक्ष्य तक क्यों न पहुँच सकेगी ।" पूछने वाला निरुत्तर था, निदान बहस बन्द हो गयी और गिलहरी का अभिनन्दन करने राम उसके पास पहुँचे और अपने श्यामल हाथों की उँगलियाँ उसकी पीठ पर फेर कर एक ऐसा स्मृति पदक प्रदान किया जो हर छोटे समझे जाने वाले, साधन हीन की हिम्मत अनन्त काल तक बढ़ाता रहेगा । कहते हैं कि तभी राम द्वारा फेरी हुई उँगलियों की रेखायें अभी भी उस गिलहरी के वंशजों की पीठ पर एक शानदार पदक की तरह अंकित हैं ।

जो हो राम, रावण युद्ध होकर रहा । एक से बढ़कर एक आतंकवादी असुर उस संग्राम में भूमिशायी हो गये । सोने की लंका जल–बल करखाक हो गयी । रामराज्य की स्थापना हुई और उसका विजयोत्सव– विजया–दशमी बड़े ठाठ–बाट से मनाई गयी । सभी क्षेत्रों ने आश्चर्य किया–भला इतना साधन–सम्पन्न रावण सपरिवार इतनी आसानी से कैसे मारा गया ? समाधानकर्त्ता ने बताया इसमें तनिक भी अचम्भे की बात नहीं । पाप तो अपनी मौत मरता है । उसकी चमक बादल में चमकने और कड़कने वाली बिजली की तरह होती है जो कुछ ही समय में अपनी उछल कूद दिखाती और फिर अपनी इस मूर्खता पर पछताती सकुचाती हुई मुँह छिपाकर बैठ जाती है । आश्चर्य की बात तो यह कही जा सकती है कि साधनहीन रामदल ने इतनी बड़ी विजय का श्रेय प्राप्त कैसे कर लिया ? सो हे समीक्षक, पूरी बात समझो, अन्ततः सत्य ही जीतता है, अन्ततः धर्म ही जीतता है, अन्ततः विवेक ही जीतता है । अनीति का अन्त करने के लिये जब महाकाल की थिरकन गतिशील होती है तो असम्भव दीखने वाली बातें सम्भव होने में देर नहीं लगती ।

रावण का आतंक आखिर समाप्त हुआ ही, स्वार्थ और अविवेक का वर्तमान आतंक जिसने आज जनमानस को बुरी तरह सम्मोहित कर लिया है और दशों दिशाओं में हाहाकार भरा नारकीय वातावरण प्रस्तुत कर दिया है आखिर यह भी तो समाप्त होना ही है । सो लगता है वह समय आ पहुँचा है । रीछों, वानरों, जटायुओं और गिलहरियों की वर्तमान हलचलें और नाटकीय ढंग में बदलती हुई विश्व रंगमंच की परिस्थितियाँ यही बताती हैं कि महाकाल का नवनिर्माण प्रत्यावर्तन, प्रचण्ड प्रकाश की तरह अगणित अन्तःकरणों में प्रवेश करके कुछ कर गुजरने की प्रेरणा भर रहा है । इसे आतंक युग की समाप्ति का स्पष्ट प्रमाण नहीं तो और क्या कहा जाय ? इसे नवयुग के–रामराज्य के आगमन का शुभ संकेत नहीं तो और क्या माना जाय ?

भगवान् परशुराम द्वारा कोटि-कोटि अनाचारियों का शिरच्छेद

अति प्रचीन काल में सहस्रबाहु नामक एक मदान्ध राजा हुआ है। कहते हैं उसकी हजार भुजायें थीं, इसी से उसका नाम सहस्रबाहु पड़ा। हो सकता है भुजायें उसकी दो ही हों। पर पाँच सौ सहयोगी राजा उसके ऐसे रहे हों जो हर बात में उसका समर्थन करते हों, उनका बल-पराक्रम अधिनायक के साथ पूरी तरह जुड़ा हुआ हो और वह उनकी शक्ति को अपनी शक्ति, उनकी भुजाओं को अपनी भुजा मानता हो। अलंकारिक भाषा की यह उपमा इसी प्रकार ठीक प्रतीत होती है। सहस्रबाहु चक्रवर्ती राजा था। उसके सहयोगी एवं अधीन राजाओं का विशाल भूखण्ड पर शासन था।

सहस्रबाहु की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का महर्षि जमदग्नि विरोध करते थे, वे उसे अनीति न करने के लिये और प्रजाजनों को अनीति न सहने के लिये समझाते थे। इस पर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, उसने महर्षि जमदग्नि का अपमान ही नहीं किया वरन् उन्हें इतनी शारीरिक पीड़ा भी दी, जिससे उनका देहावसान हो गया। जमदग्नि के पुत्र परशुराम जी को यह समाचार मिला तो वे बड़े दुःखी हुए। क्रोध उन्हें बहुत आया। जिस देश के राजा इतने उद्धत हो जायँ कि साधु, ब्राह्मणों का, लोकसेवी बुद्धिजीवियों का सहयोग तो दूर सम्मान भी न कर सकें, तो उनसे प्रजा का हित सम्पादन कैसे होगा ? इतना ही नहीं जिस निरंकुश शासन में ऋषियों का निर्मम उत्पीड़न हो, उसका तो ईश्वर ही रक्षक है। राजा की निरंकुशता से भी अधिक परशुराम जी को दुःख इस बात का हुआ कि प्रजाजन इस अन्याय को चुप बैठे देखते-सुनते रहे अनीति के प्रतिरोध का भी साहस उनमें न रहा। जहाँ के नागरिक अनीति के विरुद्ध आवाज न उठा सकें, प्रतिशोध न सही, प्रतिरोध की भावना जिनमें न रहे, उन्हें मृतप्रायः ही कहना चाहिये।

पिता की मृत्यु का युवक परशुराम को दुःख अवश्य था, पर इससे भी अधिक दुःख उन्हें इसका था कि शासन इतना उद्धत हो उठा कि औचित्य

का प्रतिपादन करने वाले बुद्धिजीवी तत्व को सहन कर सकना उसके लिये सम्भव न हो सका । इसके अतिरिक्त उनके लिये यह भी कम कष्ट की बात न थी कि प्रजाजनों की प्रतिरोध शक्ति कुण्ठित हो गयी । अनीति को सहन करना प्रतिरोध के लिये कुछ न करना कायरता और भीरुता का चिन्ह है, जिस समाज में ऐसे लोगों का बाहुल्य हो जाय उसका भविष्य स्पष्टतः अन्धकारपूर्ण है । अपने पिता के अपमान और अवसान को वे व्यक्तिगत हानि मान चुप होने के लिये मन को समझाते तो भी उनकी आत्मा शासन की दुष्टता और प्रजाजनों की भीरुता को सहने के लिये तैयार न हुई । उनके अन्तर में एक आग जलने लगी, जो कहती थी कि संसार को प्रगतिशील और शान्ति युक्त रहना हो तो अनीति का उन्मूलन होना ही चाहिये । अपनी शक्ति नगण्य हो तो भी जितना सम्भव हो उतना तो करना ही चाहिये ।

असहनीय अवांछनीय दुष्काल को उलट–पुलट डालने वाले महाकाल के पास परशुराम जी गये और अनीति उन्मूलन की शक्ति उपलब्ध करने के लिये भगवान् शंकर की कठोर तपश्चर्यापूर्वक आराधन करने लगे । अस्थिर मति, भावावेश ग्रस्त, उतावले, अधीर और तनिक–सी कठिनाई आने पर लक्ष्य छोड़ बैठने वाले ओंछे मनुष्यों की देवता कोई सहायता नहीं करते । वे जानते हैं कि साहसी, दृढ़ प्रतिज्ञ, उदार और आत्म–विश्वासी लोग ही कोई बड़ा काम कर सकते हैं । जिनमें यह गुण न हो उन्हें वरदान आशीर्वाद या सहायता देना व्यर्थ है । वे बड़ी बातें सोच तो सकते हैं, पर बड़े काम कर नहीं सकते, ऐसे लोगों को कोई वरदान देना अपने आशीर्वाद को भी उपहासास्पद बनाना है । इसलिये शंकर जी उनकी तपश्चर्या और दृढ़ता को बहुत दिन तक परखते रहे । जब उन्हें विश्वास हो गया कि आदमी जीवट का है तो परशुराम जी को बुलाया, अपना स्वरूप दिखाया और कहा––"हे लोकमंगल की आकांक्षा करने वाले, दृढ़व्रती उठ, मेरा सहयोग तेरे साथ है । निस्वार्थ भाव से परमार्थ प्रयोजन में संलग्न हर निष्ठावान की मनोकामना पूरी करता आया हूँ, तेरी भी पूरी करूँगा ।"

परशुराम ने महाकाल के चरणों में मस्तक झुका दिया और विनयपूर्वक कहा–"प्रभो ! यदि मैं व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये रत्ती जितनी

याचना भी आपसे करूँ तो मुझे घृणित कुत्ते की तरह आप दुत्कार दें, पर मैं तो लोकमंगल के लिये आपसे कुछ मांगने आया हूँ सो आप प्रसन्न हैं तो मुझे वह दें जिससे उन मस्तिष्कों का उच्छेदन कर सकूँ, जो पाप और अन्याय से, अविवेक और अज्ञान से ग्रसित होकर अपना और संसार का विनाश कर रहे हैं ।"

महाकाल ने प्रसन्नता व्यक्त की और एक प्रचण्ड परशु उस युवक के हाथ में थमा दिया । वह अजेय था, अमोघ भी । इसे पाकर परशुराम बड़े प्रसन्न हुए । अब उन्होंने उन दुर्दान्त दैत्यों को चुनौती देना आरम्भ कर दिया जिन्होंने कि उस समय की सज्जनता, प्रखरता और सुख–शान्ति को कुचल कर रख दिया था । जगह–जगह संघर्ष आरम्भ हुए । संघर्ष छोटे भी थे और बड़े भी । एक ओर सशस्त्र साधन सम्पन्न सेनायें थीं, दूसरी ओर परशुराम का परशु । संघर्ष हर स्तर पर हुए पर पुराणकारों के अनुसार विजयी अन्ततः परशुराम का परशु ही हुआ । अनाचारियों के उतने सिर कट–कट कर जमीन पर गिरे कि एक बार समस्त संसार में से अनाचारियों का पूरी तरह सफाया ही हो गया । कहते हैं कि छिपे दुष्टों की भी खोज चलती रही और वे छद्म वेश में जहाँ भी पाये गये उनके शिर काटे गये । कथा है कि इक्कीस बार ऐसे प्रयत्न हुए और उस समय की दुर्बुद्धि का पूर्णतया सफाया हो गया ।

कथा में से तथ्य निकाला जाय तो स्पष्टतः यही है कि व्यापक अनाचार का निवास है मानवीय मस्तिष्क । रावण के दश सिरों में एक गधे का भी था । गधा अर्थात्–मूर्ख । वह समझदार तो था पर मूर्खता भी कम न थी । इसी तथ्य को अलंकारिक रूप में कहने के उद्देश्य से उसका एक शिर गधे जैसा दिखा कर प्रतिपादित किया गया है । सभी अनाचारियों के शिर परशुरामजी न काट डाले, इसका अलंकार यह है कि उनके शिरों का, दिमागों का आमूल–चूल परिवर्तन कर दिया । जो अनाचारी थे उन्हें सदाचारी बना दिया गया । यह अभियान २१ बार चलाया गया, ताकि विष वेलि का कोई अंकुर कहीं छिपा न रह जाय । भावनात्मक एवं बौद्धिक दुर्बुद्धि मनुष्य में गुप्त रूप से छिपी रहती है तो उसके बरसाती घास की तरह फिर उग आने और फैलने–फूलने लगने

की आशंका बनी रहती है । इसलिये उसका २१ बार, बार–बार उन्मूलन करना ही उचित है । परशुराम जी ने वही किया भी ।

परशु का अर्थ है–प्रबल प्रचार । समर्थ ज्ञान यज्ञ । प्रभावी लोक–शिक्षण, जन–मानस परिवर्तन के लिये सुनियोजित अभियान आवश्यक था । परशुराम जी ने इसी शस्त्र का उपयोग किया और महाकाल भगवान् सदाशिव ने उन्हें दिया भी वही था, यह शस्त्र धातुओं का बना भले ही न हो पर उसकी सामर्थ्य बज्र से बढ़कर थी । इन्द्र का लौह बज्र राज दण्ड जब कुण्ठित हो गया था, तब तपस्वी दधीचि की अस्थियों का मानवीय 'अणुबम' प्रयोग किया गया था । वृत्रासुर जैसा अपराजेय असुर उसी से मरा था । पिछले दिनों इस शस्त्र का कितने ही लोग सफल प्रयोग करते रहे हैं । ईसाइयों के मजहब को जन्मे दो हजार वर्ष भी नहीं हुए कि उन्होंने अपने प्रभावी प्रचार के बलबूते संसार की एक–तिहाई जनता को, एक अरब मनुष्यों को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया । साम्यवाद का जन्म हुए एक शताब्दी भी पूरी नहीं हुई कि उसने डेढ़ अरब लोगों के मस्तिष्कों पर कब्जा कर लिया । इसी का नाम सच्चे अर्थों में सिर काटना है ।

तलवार से या फरसे से किसी का शिर काटने मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इससे घृणा, द्वेष, रोष, असन्तोष और प्रतिशोध पनपता है । क्रिया की प्रतिक्रिया, प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया का कुचक्र शान्ति का नहीं अशान्ति का सृजन करता है । सिर काटने का सही तरीका किसी के विचार बदल देना ही है । वाल्मीकि, अँगुलिमाल, अजामिल, विल्वमंगल जैसे दुराचारी संत बन जॉय, तो इस मस्तिष्क परिवर्तन को शिर काटना ही कहा जायगा । शिरफिरों के सिर सही करने के लिये कभी–कभी तलवार और फरसों की भी आवश्यकता पड़ सकती है, पर बेहतर तरीका विचारों के बदलने का ही है । परशुरामजी ने यही अभियान चलाया था, महाकाल ने उन्हें सफलता का आशीर्वाद वरदान दिया और सहयोग का प्रतीक प्रचण्ड परशु भी । उनकी रचनात्मक और संघर्षात्मक शक्तियाँ निर्धारित दिशा में लगीं तो लोक–मानस पर उसका प्रभाव पड़ा ही । तेजस्वी और निखरे हुए व्यक्तित्व, निस्वार्थ भाव से जिस लोक–कल्याण कार्य को हाथ में लेते हैं तो उसमें ईश्वर की सहायता भी

मिलती है और सफलता का पथ प्रशस्त होने में भी देर नहीं लगती ।

वर्णन है कि दैत्य सहस्रबाहु की हजार भुजाओं में से परशुराम जी ने अपने कुल्हाड़े के प्रहारों से ९९८ भुजायें काट दीं । बेचारे की कुल दो बाँहें ही शेष रह गयीं । अनीति के समर्थक तभी तक साथी बने रहते हैं, जब तक इस साझेदारी में निर्बाध रीति से लाभ ही लाभ दीखता है । जब उन्हें लगता है कि प्रतिरोध प्रचण्ड हो रहा है और अपने को लांछित एवं लज्जित होने के साथ-साथ परास्त भी होना पड़ेगा तो उन्हें अनीति का साथ छोड़ते देर नहीं लगती । सहस्रबाहु अन्ततः अकेला दो भुजा वाला ही बचा ।

आज भी इतिहास उस प्राचीन कथा-गाथा की पुनरावृत्ति कर रहा है । पाप के सहस्रबाहु के अनेक साथी सहचर मिल रहे हैं और अपना योगदान देकर उसे समर्थ बना रहे हैं । अन्याय को, अविवेक को जब सफलता मिलती है, तो वह मदान्ध हो जाता है । प्रबुद्धता उसे रोकती-टोकती है तो उसे तिरस्कृत ही नहीं करता, प्राणघातक चोट भी पहुँचाता है । सहस्रबाहु ने जमदग्नि के साथ जो दुर्व्यवहार किया उसकी तुलनात्मक घटनायें पग-पग पर, पल-पल पर देखी जा सकती हैं । सहस्रबाहु को अजेय होने का अभिमान था, आज की भौतिक सभ्यता भी कुछ ऐसा ही अहंकार साधे बैठी है ।

पाप का प्रतिरोध मानवता की पुकार है, वह पुकार किसी न किसी परशुराम के सिर पर चढ़ कर बोलती और अपना काम करती है । भगवान् का आशीर्वाद सहयोग और साधन परशु उसे मिलता है । फलतः तेजस्वी ईश्वरीय प्रतिनिधि वह काम कर सकने में समर्थ होते हैं जो दीखने में कठिन ही नहीं असम्भव जैसे प्रतीत होते हैं । समस्त पृथ्वी पर बिखरे हुए अनाचारियों के शिर काट डालना, सो भी एक बार नहीं २१ बार यह एक अत्युक्ति लगती है, पर यदि अज्ञान के विरुद्ध समर्थ संगठित सुनियोजित एक ऐसा सद्ज्ञान अभियान आरम्भ किया जाय जो जन-मानस को समुद्र मन्थन की तरह मथ डाले तो उससे सूर्य जैसा तेज, चन्द्रमा जैसा आरोग्य, कल्पवृक्ष जैसी विपुलता, कामधेनु जैसी तृप्ति और अमृत जैसी पूर्णता उपलब्ध हो सकती है । लगता है इन दिनों यही सब कुछ हो रहा है । युग

निर्माण के लिये प्रतिष्ठापित किया हुआ ज्ञान-यज्ञ लगता है अज्ञान और अनाचार से सम्बद्ध इस विश्व वसुन्धरा पर अमृतमयी शान्ति की घटायें बरसाने में सफल होगा और कोई परशुराम अपने महाकाल प्रदत्त परशु के द्वारा अनाचार से उद्विग्न कोटि-कोटि शिरों को काटकर उनके स्थान पर गणेश जैसे पूज्य शिरों को प्रतिष्ठापित करेगा ।

इतिहास तेरी पुनरावृत्ति सफलतापूर्वक सम्पन्न हो । ⓘ

भागीरथों और शुनिशेपों की खोज

देवताओं की संख्या बहुत बड़ी है, उनमें महादेव केवल-शिव शंकर को कहते हैं । महा का अर्थ है-बड़ा । अन्य देवता उतने बड़े नहीं जितने महादेव । इसलिये शिव के अतिरिक्त और किसी को भी महादेव नहीं कहा जाता । बड़प्पन, किसी के समर्थ, वैभवशाली एवं विभूतिवान होने से नहीं मिलता वरन् लोक-मंगल से, त्याग, बलिदान एवं परदुःख निवारण के लिये करुणा की मात्रा पर निर्भर रहता है । इस कसौटी पर अन्य सभी देवताओं की तुलना में महाकाल शिव ही सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हुए ।

समुद्र मन्थन से जो गरल निकला, उससे समस्त विश्व जल जाने की सम्भावना थी । इसी विभीषिका को, संसार पर आने वाली भयानक विपत्ति को भगवान् शिव ने समझा और विश्व मंगल के लिये बलिदान की बड़ी से बड़ी सीमा हो सकती है उस तक पहुँचे । महा गरल जिसकी एक बूँद से समस्त विश्व विमूर्च्छित हो सकता था, शिव ने शिरोधार्य किया और वे उसे पी गये । प्रतिक्रिया क्या हुई उसे दूसरे लोग नहीं जानते पर नीलकण्ठ का गला अनन्तकाल से लेकर अब तक रुँधा हुआ है । विष अभी तक उनके कण्ठ में बैठा है । "पीर पराई न जानने वाली दुनियाँ जय-जयकार करके अपने घर चली गयी, पर विषपान की प्रतिक्रिया क्या हुई इसे वही जानते हैं जिस पर बीती । इस त्याग ने उन्हें महादेव बना दिया ।

दूसरे देवता जहाँ अपने लिये पर्याप्त मात्रा में सुविधा साधन एकत्रित करके आमोद-प्रमोद भरा जीवनयापन करते हैं, वहाँ शिव का तौर-तरीका बिलकुल अलग है । उन्होंने निहंग निर्वस्त्र रहना स्वीकार किया, उतना

अपरिग्रह जितना सम्भव था, शिवजी ने अपनाया । लोकमंगल के लिये हर घड़ी मरण का वरण करने के लिये तैयार रहने की निष्ठा का प्रतीक उनका श्मशान में निवास करना है । सर्प रूपी विकारों और प्रलोभनों से वे डरते नहीं, भागते नहीं और अपने से लिपटाये रहने पर भी वह सामंजस्य संतुलन बनाये रहते हैं, पर सर्प दंश की, अवांछनीय दुर्दशा में उन्हें कभी भी नहीं पड़ना पड़ता । भूत-प्रेतों, पतितों, पीड़ितों, उपेक्षितों और उपहासास्पदों को जहाँ दूसरे सब दुरदुराते हैं वहाँ शिव-सेना में वे भरे पड़े हैं । ऐसे पतितपावन को नहीं तो फिर किसे महादेव कहा जायेगा ? जिसका ललाट उज्ज्वल चरित्र के कारण चन्द्रमा की तरह चमकता हो, वह देवताओं का भी देवता महादेव नहीं तो और क्या है ?

महान् प्रयोजनों की पूर्ति महादेव से ही सम्भव है । महादेव को प्रसन्न करने में, उनका अनुग्रह प्राप्त करने में क्षुद्र, निकम्मे एवं पतित स्तर के नर-पशु नहीं वरन् महामानव ही समर्थ होते हैं । संसार पर जब-जब विपत्तियाँ आई हैं, तब-तब महादेव की, महाकाल की सहायता अपेक्षित हुई है और उसे उपलब्ध करने में महामानव ही समर्थ हुए हैं । विपन्न परिस्थितियों में इन महा मानवों की अनिवार्य आवश्यकता होती है जो अपनी महत्ता से महादेव को प्रभावित कर उनका अनुग्रह प्राप्त कर सकने में सफल हो सकें । विपन्नताग्रस्त युग जब तक ऐसे महा-मानव पैदा नहीं करता तब तक उसका परिणाम भी सम्भव नहीं होता ।

प्राचीनकाल में राजा सगर के ६० हजार पुत्र अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप कपिल मुनि के शाप से शापित होकर जल मरे और उनकी चितायें अनन्त काल तक जलने के लिये, उन उद्धतों की आत्माओं को जलाने के लिये निरन्तर प्रज्ज्वलित रहने लगीं । इस प्रकार चिरकाल व्यतीत हो गया । कई पीढ़ियाँ बीत गयीं, तब सगर वंश में एक महा-मानव जन्मा-भागीरथ । बालक भागीरथ थोड़ा समर्थ हुआ तो उसने अपने पितरों को इस प्रकार नरक की अग्नि में जलते देखा । वे उससे बहुत दुःखी हुए और उनके परित्राण का उपाय सोचने लेग । व्यापक संकट निवारण का एक ही उपाय उन्हें बताया गया-तप । तप से ही महादेव प्रसन्न होते हैं और इस दैवी सहयोग से बड़े-बड़े कठिन कार्य सम्भव होते हैं । गंगा

अवतरण जैसा कठिन कार्य तप से ही सम्भव हो सकता था । स्वर्ग से उतरकर गंगा की धारा जब पृथ्वी पर आती तभी सगर सुतों का उद्धार होना था ।

भागीरथ ने तपस्वी जीवन स्वीकार किया, वे स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं, परमार्थ प्रयोजन के लिये प्रचण्ड तप करने लगे । वास्तविक तप की परख धैर्य, निष्ठा, दृढ़ता एवं अडिग संकल्प की कसौटी पर की जाती है । आवेश ग्रस्त उतावले लोग तुर्त-फुर्त बहुत कुछ पा लेने के लिये व्याकुल रहते हैं । अभीष्ट मनोरथ की प्राप्ति में तनिक भी विलम्ब या अवरोध उन्हें सहन नहीं होता । ऐसे छछोरे दैवी अनुग्रह के अधिकारी नहीं हो सकते, इस बात को भागीरथ जानते थे इसलिये उन्होंने अगणित विघ्न बाधाओं, अवरोधों और कठिनाइयों का सामना करते हुए चिरकाल तक अपनी सतत साधना जारी रखने का निश्चय किया । सो कालान्तर में इनका पुरुषार्थ सफल हुआ । स्वर्ग में रहने वाली गंगा पृथ्वी पर आने को सहमत हो गयी । भागीरथ ने तप द्वारा यह कठिन कार्य सम्भव बना दिया कि अज्ञान ग्रस्त संसार में स्वर्गीय ज्ञान-गंगा का अवतरण हो । अविवेक से समुत्पन्न अनाचार के दावानल में जलते हुए अगणित मानव-पुत्रों का उद्धार आखिर और कर भी कौन सकता है ।

अज्ञान ग्रस्त लोगों के मस्तिष्क में ज्ञान गरिमा प्रविष्ट करने का कार्य, सद्‌विचारों को फैलाने का आयोजन बड़ा दुरूह है । इसमें भयानक प्रतिक्रिया होती रही है । इसी प्रतिक्रिया की लपेट में सुकरात, ईसा, मंसूर, दयानन्द, गाँधी आदि न जाने कितनों को अपने प्राण खोने पड़े और न जाने कितनों को अपार यातनायें सहनी पड़ीं । स्वर्ग से-ऊँचे से नीचे गिरते समय धारा जमीन में गड्‌ढा कर देती है और गड्‌ढा अपनी भयानकता से कुछ दुर्घटना घटित न कर दे इसलिये उसके लिये महाकाल-शिव की कृपा अनुग्रह अपेक्षित हुआ । तपस्वी भागीरथ ने वह भी प्राप्त कर लिया । गंगा शिव की जटाओं में उतरीं और फिर वहाँ से पृथ्वी पर वह निकलीं । जलते हुए सगरसुतों का श्मशान, अशान्त संसार समाप्त हो गया । ज्ञान की गंगा जहाँ बहेगी, शान्ति क्यों न होगी ? भागीरथ की तपस्या का सत्परिणाम समस्त संसार को मिला, सभी ने उन्हें सराहा ।

ऐसी ही एक घटना अतीत काल में और भी हुई थी । बारह वर्ष तक लगातार दुर्भिक्ष पड़ा । इन्द्र देव ने कुपित होकर दुष्ट दुरात्मा प्रजा-जनों के दुष्कर्मों का दण्ड देने के लिये उन्हें वर्षा का अनुदान देना बन्द कर दिया । पानी न बरसने से घास-पात, पेड़-पौधे, जलाशय सब सूख गये । अन्न उपजना बन्द हो गया । तृषित और क्षुधित प्राणी त्राहि-त्राहि करके प्राण त्यागने लगे । सर्वत्र हाहाकार मच गया । स्थिति असह्य हो गयी तो मनीषियों ने विचार किया कि आकाश से जलधारा का अवतरण कैसे हो ? निष्कर्ष यही निकला कि देवता तप और त्याग से ही प्रसन्न होते हैं । उनके कुपित होने का एक मात्र कारण प्रजाजनों का अनाचार है । यदि त्याग और तप की अवरुद्ध परम्परा पुनः प्रचलित हो उठे तो देवताओं का मन पिघलते देर न लगे और अभीष्ट वर्षा का अभाव सहज ही दूर हो जाय ।

धरती वालों ने उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की परम्पराओं को अपनाना-कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर चलना पुनः आरम्भ कर दिया है, देवताओं को इस बात का विश्वास दिलाने और प्रमाण दने की आवश्यकता पड़ी । इसके लिये नरमेध रचाया जाना था । बहुत दिन से बलि प्रथा बन्द हो गयी थी, उसका नये सिरे से शुभारम्भ करना था । लोग हिचकिचा रहे थे, यज्ञीय बलि के लिये अपने को कौन प्रस्तुत करे ? पहला साहस कौन दिखाये ? प्रश्न चुनौती जैसा बनता जा रहा था, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था । नरमेध का आयोजन हो न सकेगा,. कोई अपनी बलि देगा नहीं, तब फिर बारह वर्ष से चले आ रहे दुर्भिक्ष का अन्त भी न होगा । नरमेध आयोजन की व्यवस्था सुनकर लोगों में जिस आशा का संचार हुआ था वह प्रमुख साधन बलिदान की व्यवस्था न बनने के कारण निराशा में परिणत होने लगी ।

सन्नाटे को चीरता हुआ एक व्यक्ति आगे बढ़ा-नाम था उनका-शुनिशेप । उसने यज्ञ के अध्वर्यु और ऋत्विजों को सम्बोधित करते हुए कहा-"यज्ञीय बलिदान के लिये सर्वप्रथम प्रस्तुत हूँ ।" आशा की किरणें फूटीं, यज्ञ आयोजन आरम्भ हुआ, एक के बाद एक लोग बलि के लिये आगे बढ़ने लगे । परम्परा प्रचलित हुई तो आदमियों का ताँता लग

गया । मनुष्यों की बदली मनोवृत्ति का परिचय पाकर आशुतोष शिव प्रसन्न हुए और उन्होंने दुर्भिक्ष निवारण के लिये विपुल वर्षा की व्यवस्था कर दी । प्रणियों के दुःख दूर हुए और सर्वत्र सुख शान्ति भरे मोद–मंगल मनाये जाने लगे ।

परिस्थिति आज भी ठीक उसी तरह की है । मनुष्यों ने अपनी नैतिक मर्यादायें छोड़ दी हैं, परमार्थ का उदार मानवीय दृष्टिकोण भुला दिया गया और हर कोई अपने व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में वेतरह व्यस्त हो गया । इसके फलस्वरूप वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में असंख्य विकृतियाँ, उलझनें और समस्यायें उत्पन्न होनी ही थीं और उनकी प्रतिक्रिया अगणित शोक–संतापों के रूप में ही उपस्थित हो सकती थी । आज साधनों का दुर्भिक्ष भले ही न हो भावनात्मक दुर्भिक्ष इतना विषम है कि नारकीय दावानल में जलते हुए प्राणी हर दिशा में हा–हाकार कर रहे हैं । महाकाल कुपित होकर कठोर प्रताड़ना का सरंजाम जुटाने में व्यस्त है ।

स्थिति को बदला कैसे जाय ? इसका एक ही उपाय है–लोग अपनी रीति–नीति बदलें, भावनात्मक परिवर्तन करें और तौर–तरीके उलटें–स्वार्थ निमग्नता को परमार्थ प्रयोजनों की अभिरुचि में परिवर्तित करें । देवता ऐसी ही मनोभूमि के लोगों को प्यार प्रदान करते हैं, उन्हीं पर उनका अनुग्रह बरसता है । इस उदात्त दृष्टि एवं जीवन पद्धति का नाम ही यज्ञ है । यज्ञ का मेरुदण्ड है–बलिदान । निरीह पशुओं का खून बहा डालना तो एक पैशाचिक कृत्य है । बलिदान का मर्म है परमार्थ के लिये अधिकाधिक आत्म–संयम और तप, त्याग का उदार परिचय–अपने लिये कम से कम रखकर अपनी क्षमता, योग्यता और समृद्धि का परमार्थ के लिये उत्सर्ग । यही मानवोचित पुण्य–परम्परा है । जब तक ऐसे यज्ञानुष्ठान घर–घर में होते रहते हैं, देवता प्रसन्न होकर विपुल सुख–शान्ति की वर्षा करते रहते हैं, पर जैसे ही लोगों ने यज्ञ से मुँह मोड़ा कि दैवी अनुग्रह की वर्षा बन्द हो जाती है । यज्ञ अग्निहोत्र को भी कहते हैं । अग्निहोत्र यज्ञीय परम्परा का एक प्रतीकात्मक पुण्य प्रदर्शन है । वास्तविक यज्ञ है–परमार्थ परायण जीवन जीने का निश्चय । देवता यही चाहते हैं और यही करने वालों को

विभूतियाँ प्रदान करते हैं । स्वार्थरत यज्ञ विरोधी लोग दैवी कोप के भाजन बनते हैं और उन्हें वस्तुओं का सही सुख-शान्ति भरी परिस्थितियों का असह्य दुर्भिक्ष अवश्य त्रास देता है । अस्तु परिस्थिति बदलने की योजना बनाने वालों को बलिदानों की व्यवस्था करनी होती है-नरमेघ रचाने होते हैं । ऐसे आयोजन खड़े करने होते हैं, जिनसे अधिकाधिक तप-त्याग करने की परम्परा प्रचलित हो सके । गाँधीजी अभी कुछ ही दिन पूर्व ऐसे नरमेघ के ब्रह्मा रह चुके हैं, जिसमे हजारों-लाखों बलिदानियों ने बढ़-चढ़कर जौहर दिखाये थे । उस नरमेघ से संतुष्ट हुए देवताओं ने भारत को हजार वर्ष की गुलामी से मुक्त किया और स्वाभिमानी, पुरुषार्थी लोगों की पंक्ति में बैठ सकने का अवसर प्रदान किया । यह एक कदम पूरा हुआ-यज्ञ का एक खण्ड चरण भी सम्पन्न हुआ । अभी दो चरण और शेष हैं । विश्व के भावनात्मक नव-निर्माण की आवश्यक पृष्ठभूमि की रचना और उसकी संघर्षात्मक स्थिति आने पर अधिक से अधिक बलिदान करने की तैयारी ।

इन पुण्य प्रयोजनों के लिये बातूनों और ढोंगियों की नहीं बलिदानियों की आवश्यकता अनुभव की जा रही है । अभियान तैयार है, पर बलिदान का अवसर आते ही चतुर लोग बगलें झाँकते और बहाने बनाते दीख पड़ते हैं । किसी को फुरसत की कमी है, किसी की आर्थिक स्थिति खराब है, तो कोई तथाकथित झंझटों में फँसा है-बेचारा क्या करे ? धूर्त बहाने-बाज इस प्रकार अपनी आत्मा को धोखा देकर किसी प्रकार मन बहला सकते हैं, पर देवता तो असलियत जानते हैं । उन्हें तो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिये कि धरती वालों ने बलिदानी परम्परायें अपनायी या नहीं ? इस प्रमाण के लिये आगे बढ़ने और साहस दिखाने से ही तो नरमेघ पूरा हो सकता है और उसी से तो देवताओं का कोप अनुग्रह में बदल सकता है ।

आज फिर शुनिशेप आगे कदम बढ़ा सकें, बलिदानों की परम्परा पुनः प्रचलित हो सके तो वर्तमान विश्व संकट का समाधान हो सकता है । सगर के ६० हजार जलते हुए बेटे-भारत के ८० करोड़ नागरिक-विश्व की पाँच अरब प्रजा श्मशान में जलती हुई चिताओं जैसी जिन्दगी जी रहे हैं ।

इन्हें शान्ति प्रदान करने के लिये ज्ञान-गंगा का अवतरण आवश्यक है। गंगावतरण की सम्भावना विद्यमान है-पर भागीरथ नहीं। दुर्भिक्ष का अन्त कर विपुल वर्षा का सरंजाम नरमेध रचा पड़ा है, पर शुनिशेप अभी भी चुप्पी साधे बैठे हैं। न जाने कब तक गंगा को भागीरथों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, न जाने कब तक नरमेघ का यज्ञकुण्ड बलिदानी शुनिशेपों की बाट जोहता रहेगा ?

हम इस अभाव की पूर्ति कर सकें तो युग की एक महती आवश्यकता पूरी हो जाय। इतिहास को अपनी पुनरावृत्ति का अवसर मिल जाय। ⊖

आज की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता और लोक-सेवा

आँधी, तूफान के समय जो पेड़ अकड़े खड़े रहते हैं, वे अक्सर उखड़ जाते हैं, किन्तु जो नम जाते हैं-झुक जाते हैं, वे आसानी से बच जाते हैं। बेंत जैसे पौधे और गिलोय जैसी बेलें किसी भी आँधी-तूफान में अपना अस्तित्व इसलिये बचाये रखने में समर्थ होते हैं कि वे समय की गति को समझ कर अपनी रीति-नीति बदल देते हैं। आँधी का प्रवाह जिधर झुकने के लिये उन्हें विवश करता है उधर झुक जाते हैं ?

बेशक आदर्शों को छोड़ने के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सकता। पाप के साथ पटरी नहीं बिठायी जा सकती, पर इतना तो हो ही सकता है कि जहाँ अपनी भूल हो वहाँ दुराग्रह छोड़ दिया जाय। इतनी समझदारी तो बरतनी ही चाहिये कि जब तक दण्ड शिर पर आगरजे तब तक पैर रोककर चलने और हाथ रोककर करने की बात स्वीकारी जाय। चोर भी जब पकड़ा जाता है और अदालत के सामने लाया जाता है, तो सज्जनता और दीनता का इजहार करता है ताकि कठोर दण्ड से थोड़ा-बहुत बचाव संभव हो सके। महाकाल का कठोर दण्ड जब कि शिर पर आ पहुँचा है, हमें चाहिये कि अपनी गतिविधियाँ बदल दें। उस दिशा में झुक जायें जिधर अगले ही दिन झुकने के लिये सर्वसाधारण को विवश होना पड़ेगा। समय से पूर्व सम्भल जाना बुद्धिमानी है। जो सूर्योदय से पूर्व उठ बैठते हैं वे नफे में रहते हैं।

अब तक जो हो चुका सो हो चुका पर अव अविलम्व हमें सुधारना और बदलना चाहिये, यह निष्कर्ष इस उद्‌बोधन का है जो भविष्य की सम्भावनाओं की चर्चाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है । महाकाल समय पलट देने के लिये समुद्यत है । यह गन्दा और फूहड़ जमाना निकम्मा और नाकारा सिद्ध हो चुका है । जिस दिशा में हम चल रहे हैं वह दिन-दिन अधिकाधिक संकट उत्पन्न करती चली आई है और अब सर्वनाश की सम्भावना सामने आ खड़ी हुई है । ऐसी दशा में वापिस लौटने और दिशा बदलने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । दुराग्रह पूर्वक यह रीति-नीति जारी रखी गयी तो मानवीय अस्तित्व को सुरक्षित रख सकना भी सम्भव न रह जायगा ।

गर्मी आने पर भी जो जाड़े के गरम कपड़े धारण किये रहने का आग्रह करता है उसे नासमझ ही कहा जायगा । जब तक पोल चल सकती थी चल गयी पर अब जब कि मनुष्य जाति के भावनात्मक पुनर्निर्माण का सारा सरंजाम तैयार खड़ा है, तब पुराने ढर्रे पर अड़े रहने से कोई लाभ नहीं । नये युग में संकीर्ण स्वार्थपरता का लक्ष्य लेकर जीना और तृष्णा, वासना के गोरख-धन्धों में उलझे रहना शायद ही किसी अत्यन्त घृणित व्यक्ति के लिये सम्भव हो । आज तो यही लोक रीति है और सब इसी चाल-ढाल में मदमस्त हैं, पर कल तो यह सब आमूल-चूल बदलने वाला है । दौलत समेटने, अहंकार को पोसने और विलासिता के ठाठ-बाट जमाने की आज की लोक-नीति अगले कल एक अजायब घर की चीज बनने जा रही है । तब कोई इस ढर्रे पर न जियेगा । हर व्यक्ति अपने अन्तरंग जीवन में उत्कृष्टता और बाह्य जीवन में आदर्शवादिता का प्रश्रय देगा । इस प्रतिस्पर्द्धा में जो जितना आगे बढ़ सकेगा उसे उतना ही बड़ा आदमी-महामानव, श्रद्धास्पद एवं सम्मानास्पद माना जायेगा । संकीर्ण स्वार्थों की गन्दगी में लिपटे हुए लोग तो अस्पर्शों जैसे घृणित बने खड़े होंगे । तब राई-रत्ती दान-पुण्य या कुछ कर्मकाण्ड पूरे करके कोई स्वर्ग मुक्ति के सपने न देखेगा वरन् जीवन को सांगोपांग रूप से उत्कृष्ट बनाने की जीवन साधना द्वारा ही आत्म-कल्याण की मंजिल पार किया करेंगे ।

उस नवयुग के आगमन की संभावना स्पष्ट है । आगामी विश्व-व्यापी उथल-पुथल, समग्र क्रान्ति, उसी की पूर्व सूचना, प्रसव पीड़ा है । अच्छा हो ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर हम चलें । आँधी-तूफानों से टकराने की अपेक्षा समय रहते अपने को झुका लें । जो अवश्यम्भावी है, जो उचित है उसके अनुकूल चलना ही ठीक है । गायत्री परिवार में यही रीति-नीति अपनाने का अभ्यास डालने के लिये शत सूत्री युग निर्माण योजना का आविर्भाव हुआ है । उस आचार संहिता को अपना कर अपने भावनास्तर और क्रिया-कलाप को उस प्रकार का मोड़ दिया जा सकता है, जो नवयुग में हर किसी को शिरोधार्य स्वीकार करना पड़ेगा । परमार्थ में रुचि बढ़े, लोक-मंगल में कुछ श्रम, समय लगे तो धीरे-धीरे उस प्रकार का अभ्यास हो जायेगा, जो नवयुग के अनुरूप, अनुकूल है । एकबारगी बदलना कठिन पड़ेगा इसलिये शुभारम्भ आज से ही करना उपयुक्त है ।

स्वयं तो हम बदलें ही, दूसरे उन सबको भी बदलने की प्रेरणा दें, जिनको वस्तुतः प्यार करते हैं और हित चाहते हैं । स्त्री, पुत्र, भाई, भतीजे, कुटुम्बी, सम्बन्धी, मित्र परिजन सभी को इस प्रकार की प्रेरणा करें कि सभी अपनी रीति-नीति सुधारें । यह कर्तव्य हमें इन दिनों अधिक तत्परता पूर्वक पालन करना चाहिये । क्योंकि महाकाल की भावी दण्ड व्यवस्था अन्धाधुन्ध नहीं सप्रयोजन है । यदि लोग बदल जाते हैं, सुधर जाते हैं, तो उस क्रूर कर्म की विशेष आवश्यकता न रह जायगी । हमारा परिर्वन भावी आपत्तियों को टाल सकने में समर्थ हो सकता है । विश्व-मानव की आज सबसे बड़ी सेवा यही हो सकती है कि हम जन-साधारण को दुर्बुद्धि त्यागने और सन्मार्ग पर चलने के लिये रजामन्द करने का प्रयत्न करें । युग निर्माण योजना एक ऐसा ही व्यापक कार्यक्रम है । महाकाल की इच्छा भी पूरी हो जाय और हम काल दण्ड के प्रहारों से बच भी जाँय इसका यदि कोई उपाय हो सकता है तो वह युग निर्माण योजना के क्रियाकलापों के माध्यम से जन-मानस में अभीष्ट परिवर्तन प्रस्तुत कर देना ही होगा । वही आज का सबसे बड़ा परमार्थ है ।

अपना परिवार-उच्च आत्माओं का भाण्डागार

युग-परिवर्तन एक बहुत बड़ा प्रयोजन है । उसके लिये तद्नुरूप बढ़े साधनों एवं उपकरणों की भी आवश्यकता होगी । यह साधन उत्कृष्ट स्तर के व्यक्तियों के रूप में अभीष्ट होंगे । संसार का भावनात्मक परिवर्तन करने के लिये भावनाशील-श्रद्धा और सद्भावना के धनी व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी । इन दिनों वही सब जुटाया जा रहा है । विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न क्षमता सम्पन्न ऐसे व्यक्तियों का इन दिनों सृजन हो रहा है जो आगे चल कर युग-निर्माताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका बड़ी खूबी से सम्पादन कर सकें ।

यह एक विचित्र और विलक्षण रहस्य है कि जन्मजात रूप से तो महामानव कोई विरले ही, यदाकदा ही उत्पन्न होते हैं । शेष तो बीच में से ही उस महाकाल की दृष्टि में आते हैं और देखते-देखते कुछ से कुछ बन जाते हैं । पूर्ण अवतारों की बात जाने दीजिये, मध्यावतार अक्सर जीवन के किसी मध्यकाल में ही परिवर्तित होते हैं । आवश्यकतानुसार महाकाल उन्हें अपनी भुजाओं में कस लेते हैं और देखते-देखते वे कुछ से कुछ बन जाते हैं ।

बुद्ध जन्मजात अवतार नहीं थे । यदि होते तो उन्हें आरम्भ से ही अपने उद्देश्य का ज्ञान होता और विवाह करने, बच्चा उत्पन्न करने और उन्हें बिलखता छोड़ने की भूल न करते । गांधी जी जन्मजात अवतार नहीं थे । यदि होते तो उनको लगभग तीस वर्ष तक की आयु तक इधर-उधर भटकना न पड़ता । रामायण के पात्रों में हनुमान, अंगद, सुग्रीव, जाम्वन्त, जटायु आदि की भूमिकायें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, पर वे लोग यदि जन्मजात महापुरुष होते तो उनका जीवन-क्रम आरम्भ से ही निर्धारित दिशा में चल रहा होता । वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अम्बपाली, सूरदास, सम्राट अशोक आदि के जीवन आरम्भ में कलुषित ही तो थे । अगणित सन्त महात्माओं एवं महापुरुषों के जीवन-क्रम ऐसे ही हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि वे जन्मजात रूप से कोई महानता लेकर नहीं आये थे । जीवन का बहुत बड़ा भाग उन्होंने निरर्थक अथवा अस्त-व्यस्त

गँवाया । समयानुसार उनकी अन्तःचेतना ने पलटा खाया, दिशा बदली और फिर वे कुछ से कुछ हो गये । इससे प्रकट होता है कि महानता का कोई पूर्व- संचित कण यदि अन्तःकरण में विद्यमान है तो वह कभी भी प्रतिफलित हो सकता है । महाकाल की एक दृष्टि किरण उसका कायाकल्प कर सकती है । गर्मी के दिनों में घास सूख जाती है, पर वर्षा आते ही उसकी सूखी जड़ें फिर हरी हो जाती हैं और घास की बेल देखते ही देखते भूमि को हरितमा से ढक देती है ।

अनेक महात्माओं में पूर्व जन्मों की महानता प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहती है । आवश्यक नहीं कि वह जन्मते ही प्रकट हो जाय । ऐसे महामानव आरम्भिक जीवन में सामान्य स्तर की नगण्य जैसी महत्व की गतिविधियों में रहते देखे जाते हैं । पर जैसे ही उपयुक्त अवसर आता है, साहसपूर्वक अपनी पूर्व भूमिका में परिणत-परिवर्तित हो जाते हैं । इस दुस्साहस में ही इतनी महानता छिपी रहती है ।

महाकाल का प्रबुद्ध आत्माओं में अवतरण स्वाँति बूँद की तरह होता है, जिससे साधारण दीखने वाली सीपी को अपने गर्भ से महान् मोती उगाने का सौभाग्य मिलता है । इस अनुग्रह से सामान्य व्यक्तित्व देखते-देखते महान् हो जाता है ।

यह एक प्रकट रहस्य है कि समुद्र मंथन करके चौदह रत्न खोज निकालने की तरह उन आत्माओं को तलाश कर लिया गया है जो पिछले युगों में महाकाल का पुण्य प्रयोजन पूरा करने में शानदार भूमिका सफलतापूर्वक प्रस्तुत करती रही हैं । जब आवश्यकता पड़ी है महाकाल ने उन्हें सेवा निवृत्त सैनिकों की तरह युद्धकाल की आवश्यकताओं को देखते हुए पुकार बुलाया है और वे खुशी-खुशी अपने चारों ओर बिखरे हुए मकड़ी के जाले जैसे जाल-जंजालों को तोड़-मरोड़ कर उस पुकार को पूरा करने के लिये उपस्थित होते रहे हैं । जिन्होंने अतीत में अपने-अपने समय पर महामानव, युग पुरुष, लोकनायक और वीर-बलिदानी बनने का महानतम गौरव प्राप्त किया है, वे उस अनुपम, अलौकिक आनन्द का रसास्वादन जानते हैं, अतएव जब अवसर आता है, तब उस सुअवसर का लाभ उठाने के लिये सबसे आगे आ जाते हैं । महारास में कृष्ण की

वंशी सुनकर गोपियाँ अपना लौकिक जाल–जंजाल छोड़ कर उस अमृत का रसास्वादन करने को दौड़ पड़ी थीं । इस रहस्य की अब पुनरावृत्ति होने जा रही है । नव निर्माण का कठिन कार्य एक प्रकार का धर्मयुद्ध है । इसमें प्रवृत्त होने की शंखध्वनि से जब दिशायें गुञ्जित होने लगेंगी तो प्रबुद्ध आत्माओं के लिये भीरुता धारण किये रहना कठिन होगा । उन्हें अपने जाल–जंजाल तोड़कर उस महान आह्वान की पूर्ति में संलग्न होना ही होगा ।

इस संध्याकाल में सभी उच्च आत्मायें महाकाल का पुण्य प्रयोजन पूर्ण करने के लिये उसी तरह विद्यमान हैं जिस प्रकार सभी ऋषि, मुनि, वनवासी अपने निकटवर्ती जलाशय पर संध्यावन्दन करने के लिये एकत्रित हो जाते हैं या विवाह, शादी जैसे उत्सवों में सभी कुटुम्बी सम्बन्धी जमा होते हैं । युग परिवर्तन ऐसा ही अवसर है, इसमें अनादि काल से लेकर अब तक प्रायः सभी प्रबुद्ध आत्मायें मनुष्य शरीरों में विद्यमान हैं । विश्वामित्र, अत्रि, कपिल, कण्व, व्यास, वशिष्ठ, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, गौतम, नारद, लोमश, महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, कुमारिल आदि–ऋषि विवेकानन्द, रामतीर्थ, रामदास, तुकाराम, एकनाथ, ज्ञानेश्वर, कबीर, नानक, रैदास, रामकृष्ण परमहंस, सूर, तुलसी, आदि सन्त–अर्जुन, द्रोण, भीष्म, कर्ण आदि योद्धा–चाणक्य, शुक्राचार्य आदि नीतिज्ञ–हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, मोरध्वज, कर्ण, भामाशाह जैसे उदार परोपकारी– अनुसूया, मदालसा, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, सत्यवती, मैत्रेयी, गार्गी, भारती, दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, अम्बपाली, मीरा, शबरी, अहिल्या बाई, सारन्धा आदि जैसी देवियाँ–अभिमन्यु, ध्रुव, प्रहलाद, फतेहसिंह, जोरावर जैसे वीर बालक इन दिनों मौजूद हैं । वे साधारण जीवन व्यतीत कर रहे हैं । अभी वे साधारण स्थिति में हैं, पर अगले ही दिनों उनको असाधारण बनते देर न लगेगी । लोग आश्चर्य करेंगे कि कल का साधारण समझा जाने वाला व्यक्ति आज इतना असाधारण–इतना महान् कैसे बन गया ? यह सब महाकाल का युग निर्माण प्रत्यावर्तन–महारास का दिव्यदर्शन जैसी ही अद्भुत घटना होगी ।

नव–निर्माण की सीमा केवल भारत ही नहीं सारा विश्व है । किन्तु यह कार्य भारत से ही आरम्भ हो रहा है । कारण कि इस परिवर्तन का

आधार अध्यात्म है । भारत अध्यात्म की मातृभूमि है । इसलिये इस कार्य का श्रीगणेष यहीं से हो सकता है । यह शुभारम्भ अवश्य गीता नायक भगवान कृष्ण की जन्मभूमि से हो रहा है, पर उसका क्षेत्र व्यापक है । यह प्रकाश विश्व के कोने–कोने में पहुँचाना है और सारी दुनियाँ को ही मानवता के उच्च आदर्शों को अपनाने के लिये प्रशिक्षित करना है । अस्तु इस अभियान को विश्व आन्दोलन ही कहना चाहिये । इस प्रयास में विश्वभर की सभी आत्माओं का योगदान रहना है । अतएव वे भी भारत भूमि में ही इन दिनों अवतरित हो रही हैं । कुछ के जन्म हो चुके हैं, कुछ के होने वाले हैं । विश्व के सभी धर्मों के देवदूतों का आगमन हो रहा है । समय पर जिनने विश्व को राजनैतिक, नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक परिस्थितियों को सुधारने के लिये अपने ढंग से मानव जाति की महत्वपूर्ण सेवा की है, ऐसी अनुभवी, प्रशिक्षित और परखी हुई आत्मायें फिर अवतरित हो रही हैं ।

जो जन्म ले चुकीं वह समय पर अपना आवरण हटाकर प्रकट होंगी । जिनका जन्म नहीं हुआ वे घर ढूँढ़ रही हैं । कई आत्मायें उपयुक्त नर–नारियों के रज–वीर्य में प्रवेश कर चुकी हैं और अवसर मिलने पर वे जन्म धारण कर लेंगी । इस दृष्टि से कुछ ही समय में भारत महापुरुषों की एक रत्नराशि के रूप में अपना अस्तित्व प्रकट करेगा ।

प्रज्ञा परिवार के सदस्यों में ऐसी अनेक उच्चस्तरीय आत्मायें विद्यमान हैं । वे जब कभी अपने बारे में विचार करती हैं तो उन्हें स्पष्ट विदित होता है कि वे साधारण नहीं असाधारण हैं । इन दिनों उनकी आत्मा जोरों से कोंच रही हैं और निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप कोई साहसपूर्ण कदम बढ़ाने के लिये जोरदार धक्के देकर विवश कर रही है । अपने परिवार में ऐसी अनेक आत्माओं को नव निर्माण के लिये ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत करते हुए देखा जाय तो उसे आश्चर्य नहीं स्वाभाविक मानना चाहिये । क्योंकि वे साधारण परिस्थितियों में पड़े हुए तो हैं पर वस्तुतः साधारण नहीं हैं । समय आने पर वे साहसपूर्वक आगे बढेंगे और अपना अवतरण उद्देश्य पूरा करेंगे ।

विशेष प्रयोजन के लिये, विशिष्ट आत्माओं का विशेष अवतरण

अगले दिनों निश्चित रूप से एक बहुत बड़ी घटना घटित होने वाली है । इतनी बड़ी जिसकी तुलना में इतिहास की पिछली सभी परिवर्तन चर्चायें फीकी पड़ जायेंगी । प्राचीन काल में विज्ञान का इतना विकास नहीं हुआ था । जनसंख्या की दृष्टि से मनुष्य इतने अधिक नहीं बढ़े फैले थे और न यातायात की इतनी त्वरा सुविधायें थीं जितनी आज हैं । आज तो सारा संसार एक नगर की गली–मुहल्ले जैसा हो गया है । उन दिनों विद्वान तो थे पर सर्व साधारण तक विचारशीलता की हवा नहीं पहुँची थी । थोड़े लोग शक्ति सम्पन्न होते थे इसलिये उन्हीं की हार–जीत संसार की स्थिति बदल देती थी, पर आज स्थिति एवं शक्ति का स्रोत नागरिकों तक जा पहुँचा है । इसलिये अब हर क्षेत्र का दायरा बहुत बढ़ गया है । इसी दृष्टि से भावी परिवर्तन अब तक के सभी परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक बड़ा, अधिक व्यापक और अधिक उथल–पुथल भरा होगा ।

क्या राजनैतिक, क्या दार्शनिक, क्या वैज्ञानिक, क्या समाज शास्त्री, क्या अर्थ विशेषज्ञ, क्या अध्यात्मवादी सभी एक स्वर से यह अनुभव करते हैं कि जिस रास्ते पर आज दुनियाँ चल पड़ी है वह गलत और अनुचित है । इसकी प्रतिक्रिया हमें हर बीसवें साल एक ऐसा महायुद्ध लड़ने के लिये विवश करती हैं जिसमें उत्तरोत्तर धन जन की अपार हानि होती है और नई–नई समस्यायें, उलझनें और गुत्थियाँ उठ खड़ी होती हैं । इसके अतिरिक्त मानव जाति की वर्तमान विचारधारा जन साधारण के जीवन को दिन–दिन अधिक बोझिल अधिक अशान्त और अधिक जटिल, अधिक कष्टकर और अधिक असफल बनाती चली जा रही है । आज भी कम विपन्नता नहीं हैं, आज भी सर्व साधारण को इन परिस्थितियों के कारण बहुत असंतोष, बहुत रोष और बहुत कष्ट है फिर यदि यही वातावरण बना रहा और जैसी कि सम्भावना है अगले दिनों और भी बिगड़ा तो यह दुनियाँ मनुष्यों के रहने लायक न रह जायगी । उलझनें इतनी अधिक

बढ़ेंगी कि लोग उन्हीं से मर खप कर नष्ट हो जायेंगे ।

यह परिस्थिति हर विचारशील को यह सोचने के लिये विवश करती है कि आज की रीति–नीति को बदला जाना चाहिये । बदलाव के स्वरूपों और तरीकों में अन्तर है पर यह निष्कर्ष सर्व सम्मत है कि आदमी को नेक और उदार होना चाहिये तथा उसकी गतिविधियाँ ऐसी हों जो एक–दूसरे से टकराने की नहीं स्नेह सहयोग की स्थिति पैदा करें । साधनों को विनाश के लिये विकास के लिये प्रयुक्त किया जाय । यही युग की पुकार है, यही महाकाल की आकांक्षा है पर दुनियाँ एक नशेबाज की तरह है, जिसे अपने पुराने ढर्रे के दोष विदित होते हुए भी उसे बदलने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है । परिवर्तन की बात सुनकर उसका जी घबराता है, डर लगता है । जो है सो ठीक । जो ढर्रा चल रहा है उसी लकीर पर लुढ़कते रहने में लोग सुविधा सोचते हैं । विवेक एवं औचित्य के स्थान पर सर्व साधारण की रुचि पुराने ढर्रे पर चलते रहने की है । यदि इस रुचि को बदला न जाय, लकीर के फकीर बने रहने की रूढ़िगत परम्पराओं से चिपके रहने की आदतों को न सुधारा जाय तो फिर तेजी से सर्वनाश के निकट जा पहुँचना ही एक मात्र परिणाम शेष रह जायगा ।

अस्तु भावनात्मक एवं क्रिया–पद्धति की वर्तमान रीति–नीति में साधारण सुधार नहीं भारी परिवर्तन आज की एक अनिवार्य आवश्यकता बनकर सामने आया है और वह पूरा होकर रहेगा । जन–मानस में यह अभिलाषा अव्यक्त रूप से काम कर रही है । वे स्वयं बदलना भले ही पसन्द न करें पर परिस्थितियों को जरूर बदला देखना चाहते हैं । ऐसी जन आकांक्षा को अध्यात्मवादी दैवी प्रेरणा के रूप में देखते हैं । विश्व की सूक्ष्म परिस्थितियों का ज्ञान रखने वाले तत्वदर्शी इस प्रवाह के पीछे परब्रह्म–परमात्मा की महा प्रेरणा को कर्म करता हुआ मानते हैं । महाकाल ऐसी ही ईश्वरी शक्ति है जो अवांछनीय परिस्थितियों में अवांछनीयता को बदल देने का अपना काम अनादिकाल से अभीष्ट अवसरों पर बड़ी खूबी के साथ सम्पन्नः करती रही है । उसी महाशक्ति की हलचलों को इन दिनों हर तत्वदर्शी अनुभव करता है और भावी परिवर्तन को अवश्यम्भावी मानता है । स्वभावतः ऐसे व्यापक परिवर्तनों के

अवसर पर अवांछनीय तत्व प्रतिरोध करते हैं, गड़बड़ फैलाते और बाधा डालते हैं । उन्हें इस उद्धतता का सबक सिखाने के लिये दैव–दण्ड के करारे प्रहार सहने होते हैं । जितने बड़े परिवर्तन होते हैं, उतने ही उसके प्रतिरोध भी खड़े होते हैं और उतने ही कड़े वज्र दण्ड बरसते हैं । पहले भी यही होता रहा है अगले दिनों भी यही होने वाला है । इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता रहता है । अब फिर लगभग उसी आधार पर थोड़े हेर–फेर के साथ घटनाचक्र प्रवर्तित होने वाला है ।

यह महत्वपूर्ण जानकारियाँ इसलिये प्रस्तुत की गयी हैं कि यदि सम्भव है तो समय रहते अपने को और दूसरों को बदलने की चेष्टा की जाय, इससे महाकाल के कार्य में सरलता होगी, कष्टों से संसार को बहुत कुछ राहत मिल जायगी और उपद्रवों की उग्रता अनावश्यक विक्षोभ पैदा करने में रुक जायगी । जिम्मेदार, ईमानदार और थोड़े ऊँचे उठे हुए लोगों को करना भी यही चाहिये, आग को बुझाने के लिये दैनिक कार्यों और सुविधाओं को छोड़ना ही उचित है । इसी औचित्य का उद्‌बोधन इस रहस्योद्‌घाटन का लक्ष्य है । अगला समय कैसा आयेगा उससे बदली हुई रीति–नीति किस प्रकार की होगी, इससे भलीभाँति समझकर यदि हम अपनी सोचने की पद्धति बदलें व महाकाल के निर्धारणानुसार चलें, इसी में हमारा कल्याण है ।

यहाँ यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि इस परिवर्तन प्रक्रिया की अभीष्ट पृष्ठभूमि तैयार करने की ईश्वरीय जिम्मेदारी कुछ विशेष आत्माओं पर सौंपी गयी है । उनमें से बहुत कुछ को गायत्री परिवार के अन्तर्गत संगठित कर दिया गया है । जो बाहर हैं वे भी अगले प्रवाह में साथ हो लेंगी । यों देखने में हम एक साधारण स्तर का जीवन जीते हैं और बाहर से कोई विशेषता अपने अन्दर दिखाई नहीं पड़ती, फिर भी "परमार्थ प्रयोजनों के लिये बहुत कुछ कर गुजरने की अभिलाषा" एक ऐसा तत्व है जिसे ईश्वरीय प्रकाश एवं पूर्व जन्मों के संचित उत्कृष्ट संस्कारों का प्रवाह कह सकते हैं । अपनी यही विशेषता है । जिसके भीतर जितनी ईश्वरीय प्रयोजनों में सहयोगी बनने की तड़पन है वह उतना ही दिव्य आत्मा है । तड़पन पानी के स्रोतों की तरह है जो

पहाड़ जैसी कठोरता को चीर कर बाहर निकल आती है । साधारण परिस्थिति के लोग भी उपयुक्त अवसर पर अपनी तड़पन क्रियान्वित करने का साहस कर बैठते हैं, तब वह साहस ही ईश्वरीय अवतरण के रूप में उन्हें सूर्य, चन्द्रमा की तरह चमका देता है । तड़पन का फूट पड़ना, इसी का नाम अवतरण है ।

अपने परिवार में एक से एक बढ़कर उत्कृष्ट स्तर की आत्मायें इन दिनों मौजूद हैं । वे जन्मी भी इसी प्रयोजन के लिये हैं । ऐसे महान् अवसरों पर उत्कृष्टता सम्पन्न सुसंस्कारी आत्मायें ही बड़ी भूमिकायें प्रस्तुत करने का साहस करती हैं । आंतरिक साहस उनकी सांसारिक सुविधाओं को मकड़ी के जाले की तरह तोड़-फोड़ कर रख देता है और लगता है यह व्यक्ति अपनी विषम परिस्थितियों के कारण कोई कहने लायक काम न कर सकेगा । देखा जाता है कि वही ऐतिहासिक महापुरुष स्तर के काम करता है । यह और कुछ नहीं उत्कृष्ट सुयोजनों के लिये दुस्साहस कर बैठने की हिम्मत ही है, जिसे ईश्वरीय प्रेरणा के रूप में परखा जा सकता है । हममें से अनेकों परिजन अभी अपनी ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत करने की बात सोच रहे हैं । कई उसके लिये कदम बढ़ा रहे हैं । कई दुस्साहसपूर्वक अग्रगामी होने की स्थिति को छू रहे हैं । यह शुभ लक्षण हैं । यह इस बात के प्रमाण हैं कि जो कार्य हमें सौंपा गया है, जिसके लिये अपना यह महत्वपूर्ण जन्म है, अब उसकी पूर्णता के लिये अभीष्ट प्रकाश एवं साहस अपने अन्दर उत्पन्न हो चला और वह करने का समय आ गया, जो इन्हीं दिनों करना आवश्यक है ।

इतिहास अपनी पुनरावृत्ति कर रहा है । अपना परिवार एक ईश्वरीय महान प्रयोजन की पूर्ति में सहायक बनने के लिये पुनः आ इकट्ठा हुआ है । अच्छा हो हम अपने को पहचानें और अतीत काल की सूखी स्मृतियों को फिर हरी कर लें । निश्चित रूप से हम एक अत्यन्त घनिष्ठ और निकटवर्ती आत्मीय परिवार के चिर आत्मीय सदस्य रहते चले आ रहे हैं । समय आने पर इसका रहस्य भी खुल जायगा, पर अभी वह समय नहीं आया । हम लोग इसकी हल्की-सी झाँकी इस रूप में पा सकते हैं कि परस्पर हम में से किसका क्या सम्बन्ध रहा है और कितने समय

पूर्व, किसने, किस प्रकार की दिव्य भूमिकायें सम्पादित की थीं । थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर यह अनुभव आसानी से हो सकते हैं । ऐसी जानकारी आत्मज्ञान की दृष्टि से श्रेयस्कर एवं सहायक ही होगी । रात्रि के अन्तिम भाग में प्रायः अन्तःचेतना स्पष्ट एवं निर्मल होती है । उस समय आँख खुलने पर बिस्तर में पड़े-पड़े ही अन्तःकरण को सामान्य विचारों से खाली करके इस अनुभव के लिये खुला छोड़ देना चाहिये कि अपने अतीत जन्मों एवं क्रिया-कलापों की हलकी-सी अनुभूति उससे प्रस्फुटित हो । कई दिन ऐसा प्रयास करते रहने से अनुभव में स्थिरता आ जायगी । हिलते हुए पानी की लहरों में प्रतिबिम्ब ठीक से नहीं दीखता पर जैसे-जैसे पानी का हिलना स्थिर होता जाता है प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखने लगता है । ठीक उसी प्रकार एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के-परस्पर विरोधी एवं विसंगत अनुभव भी आयेंगे पर थोड़े ही दिनों में कुछ अनुभूतियाँ बार-बार, अधिक स्पष्ट और अधिक वास्तविक प्रतीत होने लगेंगी । वे कई जन्मों की होंगी । इस प्रकार की अनुभूतियों को नोट करते रहा जाय तो स्थिति की बहुत कुछ सफाई हो सकती है ।

दो में से एक का चुनाव

युग परिवर्तन की घड़ियाँ निकट आती चली जा रही हैं । यह एक सुनिश्चित तथ्य और ध्रुव सत्य है कि जिस घुटन भरे युग में हमें आज दिन गुजारने पड़ रहे हैं वह अधिक समय टिका नहीं रह सकता, यदि टिका रहे तो संसार को-मानव-समाज को -आज जिन कष्ट-कठिनाइयों से भरे नर्क में समय काटना पड़ रहा है, उससे भी हजारों गुनी लोमहर्षक विभीषिकायें उपस्थित होंगी और उस रौरवीय दावानल में मानव जाति के हर सदस्य को तिल-तिल करके जल मरना होगा । भगवान् अपनी परम प्रिय रचना इस भूलोक को और अपने परमप्रिय मनुष्य को इस सीमा तक दुर्दशाग्रस्त नहीं होने देना चाहते, वे इसका सर्वनाश नहीं देखना चाहते इसलिये वे समय रहते ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने जा रहे हैं, जिससे यह सम्भावना भयावह सर्वग्राही रूप धारण करने से पूर्व ही सरल हो जाय ।

पिछले दिनों जिस कुमार्ग पर मनुष्य जाति चलती रही है उसके दुष्परिणाम क्रमशः अधिक परिपक्व होते चले आये हैं और अब वह स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसे आगे भी देर तक चलने दिया जा सकना असम्भव हो गया है । इस स्थिति का आमूल-चूल परिवर्तन हुए बिना और कोई रास्ता अब रहा नहीं । दो ही विकल्प हैं-एक सर्वनाश, दूसरा परिवर्तन । परिवर्तन के लिये यदि हम तत्पर नहीं होते, तो फिर सर्वनाश के लिये तैयार होना पड़ेगा । सर्वनाश से बचना है तो परिवर्तन का स्वागत करना होगा । बीच का कोई रास्ता नहीं ।

अगले दिनों दुनियाँ दो भागों में बँट जायेगी, जिनमें एक उदार होगा दूसरा अनुदार । एक विवेकवान् वर्ग होगा दूसरा मूढ़ताग्रस्त । एक को देव कहा जायगा, दूसरे को दानव । मूढ़ताग्रस्त लोगों ने अपनी बुरी आदतों, दुष्प्रवृत्तियों और संकीर्णताओं से ग्रस्त होने के कारण सारे संसार को नरक तथा देवोपम मानव जाति को नर-पिशाचों के रूप में परिणत कर दिया है । उसमें वे कुछ भी बुराई अनुभव न करेंगे और न उसे बदलना चाहेंगे । पुराने ढर्रे पर चलते रहने का उनका आग्रह होगा । समय के अनुरूप बदलना उन्हें रुचेगा नहीं । इतना ही नहीं वे परिवर्तन का विरोध करेंगे और मरते समय पंख उगने वाले चींटे की तरह प्रतिरोध की उछल-कूद भी तीव्र कर देंगे । इस समुदाय को उसी वर्ग में गिना जा सकता है, जिसके बारे में गीता के ११ वें अध्याय में अर्जुन ने कहा था-

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्रा करालानि भयानकानि ।
केचिद्वलग्ना दशनान्तरेषु ।
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ।।

"भगवान् ! आपके विकराल डाढ़ों वाले भयानक मुख में वे लोग प्रवेश करते हैं और कितने ही चूर्ण-विचूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों में उलझे हैं ।"

यथा प्रदीप्तम् ज्वलनम् पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्ध वेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्ध वेगाः ।।

"जैसे मोह ग्रसित पतगे नष्ट होने के लिये प्रज्ज्वलित अग्नि में वेगपूर्वक प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह लोग भी अपने सर्वनाश के लिये आपके मुख में दौड़ते हुए जाते हैं ।"

जिन्हें मूढ़ता इस सीमा तक घेरे रहती है, उनकी संख्या इस संसार में कम नहीं । मरने के दिन अति निकट आ जाने और परिवार द्वारा पग-पग पर तिरस्कृत किये जाने पर भी अधिकांश वृद्धजन मोह-माया के दल-दल में अधिक गहरे फँसने के लिये कदम बढ़ाते रहते हैं । भविष्य को नहीं देखते, दुष्प्रवृत्तियों के परिणाम को नहीं सोचते वरन् आदतों से मजबूर पाप की गठरी ही सिर पर बोझिल बनाते चलते हैं । ऐसे लोग इस दुनियाँ में भरे पड़े हैं, उन पर न ज्ञान का असर होता है और न विवेक का प्रकाश पड़ता है । मदोन्मत्तों की तरह वे अपनी बेढंगी चाल चलते रहते हैं । इनका सुधारना कठिन देखकर महाकाल उनको गतिरोध का रोड़ा बनने देने से रोकने के लिये अपनी लात से कुचलकर रख देने को विवश होते हैं । खेत जोतते समय जो कड़े ढेले रह जाते हैं, किसी प्रकार उन्हें तोड़ने की किसान को व्यवस्था बनानी पड़ती है । युग-परिवर्तन के समय मूढ़ताग्रस्त वर्ग को अव्यवस्था से व्यवस्थित करने के लिये यही दैवी प्रकोप-चक्र गतिशील रहता है । अगले दिनों संसार में मानवीय और दैवी स्तर पर जो उत्पीड़न होने वाले हैं उनका आधार यही है । दुष्टता से निपटने का यही सनातन मार्ग है । जहाँ ज्ञान को, विवेक को, तर्क को, औचित्य को सफलता नहीं मिलती वहाँ दण्ड-प्रहार की करारी चोटें थोड़े ही समय में सब कुछ ठीक कर देती हैं । मनुष्य की चिर-संचित दुर्बुद्धि और हठवादिता बदली जानी आवश्यक है । इसी प्रयोजन के लिये ताण्डव नृत्य का सरंजाम जुटाना पड़ रहा है । दुष्टता के समर्थन में दुराग्रह करने वाले इन मोहान्त लोगों को कुचेष्टा ही वह विभीषिका है जिसके लिये दैवी और मानवी विग्रह विभिन्न रूपों में उत्पन्न होकर इस पुण्य धरित्री को रक्त-रंजित करेंगे ।

इसी प्रतिपादन का एक दूसरा निष्कर्ष यह है कि इस सन्धि वेला में मानव जाति का सद्भावना सम्पन्न वर्ग विशेष रूप से सजग होगा और महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपने विशिष्ट उत्तरदायित्वों को तन्मयता के साथ

वहन करेगा । आपत्तिकाल में विवेकवान् व्यक्ति आपत्ति धर्म का पालन करते हैं । सामान्य स्थिति की साधारण गतिविधियों को वे कुछ काल के लिये रोक देते हैं और इस आपत्ति धर्म की पूर्ति के लिये विशिष्ट पुरुषार्थ करते हैं । उनकी यह दूरदर्शिता न केवल उनके यश, गौरव, आत्मसन्तोष, पुण्य एवं श्रेय–साधन का निमित्त बनती है वरन् उसके सत्प्रयोजनों से संसार की महती सेवा भी होती है । महाकाल को अपने पुण्य प्रयोजन में उपयुक्त सहायता भी इन्हीं पार्षदों से मिलती है ।

जब गाँव के छप्परों में आग लग रही हो तो बुद्धिमान् लोग अपनी सुरक्षा की दृष्टि से भी और परमार्थ की दृष्टि से भी उस आग को बुझाने के लिये निजी सब काम छोड़कर जुट पड़ते हैं । पुराने युग के पलटने और नये युग के प्रवेश करने का मध्यान्तर एक ऐसी ही सन्धि वेला है जैसी कि रात्रि के विदा होने और प्रभात के आगमन के अवसर पर होती है । इन घड़ियों में लोग साधारण काम–काज करने की अपेक्षा दैवी सम्बन्ध स्थापित करने की, पूजा–उपासना करने की, व्यवस्था करते हैं । उपयुक्त अवसर पर उपयुक्त कार्य का विशेष महत्व होता है । बीज ठीक समय पर बोया जाय तो अच्छी फसल उगने की सम्भावना अधिक स्पष्ट रहती है प्रबुद्ध आत्मायें इतनी अन्तःचेतना अपने भीतर धारण किये रहती हैं, इतना प्रकाश उनके अन्दर बना रहता है कि उपयुक्त अवसर को पहिचानें और विशेष आयोजन के लिये विशेष अवसर पर प्रस्तुत की गयी ईश्वरीय पुकार को सुनें और इस दैवी निर्देश के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ मोड़ दें ।

ऐसी अन्तःप्रेरणा जिन्हें मिलती है वे अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते । जीवन–यापन के सामान्य क्रम में व्यवधान सहकर भी आपत्ति कालीन युगधर्म को निबाहने के लिये तत्पर होते हैं । देश की सीमा सुरक्षा के लिये समय पर अगणित बलिदानी वीर सैनिक मोरचों पर जा पहुँचते हैं । जिनके भीतर ईश्वरीय प्रकाश की किरणें विद्यमान हैं वे युग परिवर्तन जैसे महत्वपूर्ण अवसर पर संकीर्ण स्वार्थों में हानि पड़ने की बात सोचकर, अपना बचाव कर करने के लिये बहाने नहीं ढूँढ़ते । बिगुल बजने पर सैनिक कमर कसने के अतिरिक्त और कुछ सोचता ही नहीं, संकटकाल में अवकाश प्राप्त सैनिक ड्यूटी पर लौट आते

हैं । ऐसे विशिष्ट अवसर जैसा कि ऐतिहासिक सन्ध्याकाल इन दिनों उपस्थित है, सजग व्यक्तियों के लिये अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने की चुनौती उपस्थित करते हैं और वे बिना अनुनय के सहर्ष स्वीकर कर लेते हैं ।

मूढ़तावादी मोहग्रस्त असुर-वर्ग और लोकमंगल की भूमिका सम्पादित करने में संलग्न देव वर्ग इन दोनों को ही अगले दिनों अपनी रीति-नीति की श्रेष्ठता-निकृष्टता प्रस्तुत करने का अवसर मिलेगा । दोनों की गतिविधियों के सत्परिणाम और दुष्परिणाम उपस्थित होंगे और उनको देख-समझकर भावी पीढ़ी को यह निश्चय करने का अवसर मिलेगा कि उपरोक्त दोनों पद्धतियों में से कौन उपयुक्त और कौन अनुपयुक्त है । इनमें से किसे ग्रहण किया जाय और किसे त्यागा जाय ?

अगले दिनों हमें इनमें से किसी एक वर्ग में सम्मिलित होना होगा, बीच में नहीं रहा जा सकता । महाकाल के विधान में प्रतिरोध प्रस्तुत करने वाले मूढ़तावादी लोगों में सम्मिलित रहना हो तो खुशी-खुशी वैसा करें और कराल-दण्ड के प्रहार सहने को तैयार रहें । यदि यह अभीष्ट न हो तो ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में सहायक बनकर चलना ही उचित है । तब हमें अपनी गतिविधियाँ अभी से बदलनी होंगी और उस पुण्य प्रक्रिया को अपनाना होगा जिसमें आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण दोनों का ही समान रूप से समन्वय हो ।

हम बदलें तो युग बदले

युग-परिवर्तन का आरम्भ जन-साधारण का दृष्टिकोण परिवर्तन होने के साथ-साथ होता है । लोगों के विचार करने की शैली, आकांक्षा, अभिरुचि, प्रवृत्ति यदि निकृष्टता की ओर हों तो उसके फलस्वरूप व्यक्ति एवं समाज के सम्मुख अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ, चिन्तायें तथा व्यथायें उत्पन्न होती हैं और सब ओर नारकीय वातावरण विनिर्मित होता है । इसके विपरीत यदि लोगों की रुचि उत्कृष्टता और आदर्शवादिता अपनाने में हो, प्रसन्नता का लक्ष्य विन्दु परमार्थ हो तो संसार में स्वर्गीय परिस्थितियों का जन्म होता है और हर व्यक्ति प्रचुर सुख-शान्ति का

अनुभव करता है । यही वह तथ्य है जिसके ऊपर विश्वशान्ति एवं सुख का सारा आधार निर्भर है ।

युग–परिवर्तन की प्रक्रिया कहाँ से आरंभ हुई, इसका पता लगाना हो तो उसकी एक ही कसौटी है कि कहाँ स्वार्थ की उपेक्षा करके उसके स्थान पर परमार्थ को प्रतिष्ठित किया गया ? कहाँ तृष्णा और वासना को तिलाञ्जलि देकर उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता को चरितार्थ करने का साहस किया गया ? जहाँ इस प्रकार की सत्प्रवृत्तियाँ पनप रही हों समझना चाहिये कि यहीं से युग–निर्माण का शुभारम्भ हो रहा है । भावी परिवर्तित युग में जन–साधारण को शरीर निर्वाह के लिये सादगी से काम चला सकने जितनी स्वल्प आजीविका पर पूरा–पूरा सन्तोष करना होगा । भविष्य के लिये संग्रह करने की प्रवृत्ति किसी में न होगी । लोग परिवार सेवा का उत्तरदायित्व पूरी तरह निभायेंगे, पर बेटे–पोतों के लिये सात पीढ़ी तक बैठे–बैठे खाने के लिये सारी कमाई छोड़ जाने की मोह–मूढ़ता एक अनैतिक एवं हेय प्रवृत्ति मानी जायगी ।

इस दृष्टि से समाजवाद और अध्यात्मवाद एक हैं । व्यक्ति को अपनी प्रतिभा, योग्यता एवं विभूतियों का एक अनिवार्य अंश ही अपने तथा अपने परिवार के लिये खर्च करना चाहिये और यह चेष्टा होना चाहिये कि उसकी उपलब्धियों का अधिकाधिक लाभ समाज को मिले । यही दृष्टिकोण सतयुग का आधार है । रामराज्य की स्थापना इन्हीं सत्प्रवृत्तियों पर होगी । व्यक्ति जब तक अपने संकीर्ण स्वार्थों में कीड़ों की तरह कुलबुलाता रहेगा तब तक वह दिव्य वातावरण एवं स्थिर सुख–शान्ति का दर्शन करने से वंचित ही बना रहेगा । युग–परिवर्तन की नींव परमार्थ प्रवृत्ति पर निर्भर है । अतएव हमें उसी के लिये सारा ध्यान एकत्रित करना होगा और उसी प्रकार की घटनाओं की अभिवृद्धि करने का अभियान गतिशील करना होगा ।

अगला समय यह सुनिश्चित सम्भावना साथ लेकर आ रहा है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं समाज का स्वामित्व होगा । जिस प्रकार राजाओं के राज्य, जागीरदारों की जागीर, जमींदारों की जमींदारी देखते–देखते चली गयी, उसी प्रकार अगने दिनों व्यक्तिगत सम्पत्तियों का भी

राष्ट्रीयकरण होगा । व्यक्ति उसमें से उतना ही लाभ ले सकेगा जिससे उसको औसत दर्जे के भारतीय नागरिक के स्तर पर जीवित रहने की सुविधा मिल जाय । मनुष्य अपनी प्रतिभा के अनुरूप उपार्जन तो कर सकेंगे पर उसका लाभ उसी व्यक्ति के लिये सुरक्षित नहीं रहेगा वरन् समस्त मानव जाति उस सदस्य की उपलब्धियों का लाभ उठाया करेगी । मनुष्य की प्रतिभाओं का विकास जिन परिस्थितियों पर निर्भर है वे समस्त मानव जाति की चिर संचित थाती हैं । शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के जिन साधनों में आगे बढ़ सका है, वे लाखों–करोड़ों लोगों के, लाखों–करोड़ों वर्षों के अनुदान से उत्पन्न हुए हैं । इसलिये समाज को पूरा–पूरा अधिकार है कि किसी व्यक्ति के पास यदि प्रतिभा, क्षमता एवं सम्पदा है तो उसका उपयोग और उपभोग करे ।

आज यह बातें अटपटी लगती हैं । क्योंकि चिरकाल से हमारी विचार पद्धति एवं रीति–'नीति संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रभावित होती चली आ रही है । पर अब इसे बदलना ही होगा । साम्यवादी शासन के अन्तर्गत आज लगभग आधी मनुष्य जाति ने इसी रीति–नीति को स्वीकार कर लिया है और यह देख लिया है कि व्यक्ति और समाज का स्वस्थ विकास इसी पद्धति पर निर्भर है । यही मान्यता अध्यात्मवाद की भी है । प्राचीनकाल में दान का भारी महत्व था । व्यक्ति के पास जैसे ही कुछ पूँजी जमा हुई उसने लोकमंगल को लिये उसका उत्सर्ग करने की बात सोची । इसी में व्यक्ति को सन्तोष होता था और सम्मान मिलता था । स्वार्थी, संग्रहशील, कंजूस अपनी कमाई आप ही खाते रहने वाले संकीर्ण व्यक्ति सदा से चोर, पापी, तस्कर, हत्यारे आदि नामों से तिरस्कृत किये जाते रहे हैं । भारतीय इतिहास का पन्ना–पन्ना इसी तथ्य का साक्षी है । सम्पत्ति का उपार्जन तो व्यक्ति करते थे, पर उसका अधिकाधिक अंश लोक मंगल में ही खर्च होता था । लोग अपने बच्चों के सुसंस्कारों को बनाते थे पर उनके लिये दौलत छोड़ने जैसी दुश्मनी करने की बात नहीं सोचते थे । जहाँ अध्यात्मवाद का यही सुनिश्चित दृष्टिकोण कार्यान्वित होगा वहाँ पाप, शोषण, अनीति, दुष्टता के लिये कोई गुन्जायश न रहेगी । लोभ और मोह ही सामाजिक अव्यवस्था, अपराध और असन्तोष उत्पन्न करते हैं । इन दोनों को जहाँ

नियन्त्रण में ले लिया गया तो सुख-शान्ति की स्वर्गीय परिस्थितियाँ उत्पन्न होने में, विश्व-शान्ति की समस्या के हल होने में फिर कोई कठिनाई शेष न रह जायगी।

युग-परिवर्तन मूलतः मनुष्य का भावनात्मक परिवर्तन ही है। आज हमारे व्यक्तिगत जीवन को वासना और तृष्णा ने बुरी तरह आच्छादित कर लिया है। मनुष्य की अधिकांश क्षमता इन्हीं दो दुष्प्रवृत्तियों की बलिवेदी पर चढ़ती रही है। शरीर को सजाने, रंगने, मौजमजा का आस्वादन कराने के सरंजाम एकत्र करने में अपने बहुमूल्य जीवन का बड़ा भाग खर्च किया जा रहा है। इन लिप्सा-लालसाओं की पूर्ति एक छोटी सीमा तक सम्भव करने में जितना श्रम-समय लगता है उसका लेखा-जोखा यदि लिया जाय तो वह एक बहुत बड़ी सद्गुणों की अभिवृद्धि में लगाया गया होता-परमार्थ प्रयोजनों में लोक मंगल के लिये खर्च किया गया होता तो स्थिति कुछ दूसरी ही होती। संसार के महान् पुरुषों की पंक्ति में हम अपने को बैठा देखते।

महामानवों के जीवनों पर गम्भीर दृष्टिपात करने से हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को-और लालसाओं को तिलांजलि दी। सादगी से जीने का व्रत लिया। जो आसानी से मिल गया उतने रूखे-सूखे में ही सन्तोष करके शरीर-यात्रा का ढर्रा चलते रहना पर्याप्त माना। यह रीति-नीति अपनाते ही मस्तिष्क में जो असंख्य कामनाओं की आग मरघट की चिताओं जैसी जलती रहती थी वह शान्त हो गयी, उद्विग्नता मिट गयी। स्वर्गीय जीवन का यही चिन्ह है। जिसके अन्तःकरण में भौतिक कामनायें कुहराम नहीं मचातीं वस्तुतः वही योगी, यती और ज्ञानी है। शरीर के जैसे-तैसे साधन जुट जाने पर जिसे तृप्ति हो गयी, समझना चाहिये कि उसने अध्यात्मवाद का सारा तत्वज्ञान सार रूप में हृदयंगम कर लिया, भले ही उसने बड़े-बड़े ग्रन्थ न पढ़े हों।

कुएँ में पानी के छोटे-छोटे स्रोत इधर-उधर से आकर गिरते हैं और उन्हीं नगण्य-सी इकाइयों के अनुदान में बना यशस्वी कुआ असंख्य मनुष्यों, प्राणियों, वनस्पतियों की प्यास चिरकाल तक बुझाते रहने में समर्थ होता है। कुएँ का सारा यश उन जल-धमनियों के आत्मदान का

प्रतिफल है । यदि वे संकीर्ण होतीं, अपना बचाव सोचतीं, अपनी सम्पत्ति को मुफ्त में देने से कतरातीं तो इस संसार में एक भी कुआ न बन सका होता और यहाँ सब कोई कभी के प्यास से तड़प कर अपना अस्तित्व गँवा चुके होते ।

संसार की सुख, शान्ति, समृद्धि और सुन्दरता एक यशस्वी कुएँ की तरह है जिसे सजीव रखने के लिये कुछ जल धमनियों का, उत्कृष्ट आत्माओं का निरन्तर अनुदान मिलते रहना आवश्यक है । इन दिनों भारी दुष्काल इसी सत्प्रवृत्ति का पड़ गया है । लोग अपनी व्यक्तिगत तृष्णाओं की पूर्ति में पाँव से सिर तक डूबे पड़े हैं । दान-पुण्य एवं पूजा-पाठ के नाम पर राई-रत्ती जैसे उपकरण इस आशा में खर्च करते हैं कि अगले ही दिनों वह लाख-करोड़ गुना होकर उन्हें मिल जायेगा । अविवेकी नर-पशु इस स्तर के हों तो बात कुछ समझ में आती है, पर भक्ति, ज्ञान, अध्यात्म, वेदान्त, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वदर्शन जैसे विषयों पर भारी माथापच्ची कर सकने में समर्थ लोग भी जब इस कसौटी पर कसे जाते हैं कि उनका अनुदान समाज के लिये क्या है ? तो उत्तर निराशाजनक ही मिलता है । ऐसा ब्रह्मज्ञान भला किसी का क्या हित साधन करेगा जिसने मनुष्य के हृदय में इतनी करुणा एवं श्रद्धा उत्पन्न न की कि विश्व मानव को उसके अनुदान की महती आवश्यकता है और वह उसे देना ही चाहिये ।

लोक मंगल की सर्वकल्याणकारी सत्प्रवृत्तियों से ही किसी व्यक्ति, देश, धर्म, समाज तथा संस्कृति की उत्कृष्टता नापी जा सकती है । खरे-खोटे की पहचान इसी आधार पर होती है । हमारे देश में लोगों ने यश और वर्चस्व लूटने के लिये लोकमंगल के तमाशे जहाँ-तहाँ खड़े कर रखे हैं, पर यदि यह देखा जाय कि इसमें कितने व्यक्ति अपनी उपलब्धियों का कितना बड़ा अनुपात समर्पित कर रहे हैं, तो सब कुछ खोखला ही खोखला प्रतीत होता है । लोकमंगल के नाम पर खड़े किये गये यह डेरे-तम्बू आये दिन गढ़ते-उखड़ते रहते हैं । इनसे हम मनोरंजन अथवा आत्म प्रवंचना भले ही करते रहें, कोई ठोस काम न हो सकेगा । लोक मंगल की कोई प्रकाशित किरण कहीं उदय हो रही है, यह तलाश करना हो तो संस्थाओं में ऐसे लोग ढूँढ़ने पड़ेंगे जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत

उपलब्धियों का बड़े से बड़ा अनुपात जनता जनार्दन की सेवा में अर्पित कर दिया हो । गरीब के पास पसीना, शिक्षित के पास मस्तिष्क और धनी के पास धन की जो बचत होती है, आत्मा का, परमात्मा का एक ही तकाजा है कि वह उसे संकीर्णता के बन्धन तोड़कर परमार्थ प्रयोजन के लिये उत्सर्ग करें ।

जो इस तथ्य को हृदयंगम कर लेते हैं और इसी आधार पर अपनी रीति–नीति का निर्धारण करते हैं वस्तुतः वे ही इस धरती के देवता हैं । देवताओं के द्वारा ही युग परिवर्तन जैसे महान् कार्यों की भूमिका सम्पादित होती है । मुद्दतों से देव–परम्परायें अवरुद्ध हुई पड़ी हैं । अब हमें अपना सारा साहस समेट कर तृष्णा और वासना के कीचड़ से बाहर निकालना होगा और वाचालता एवं विडम्बना से नहीं अपनी कृतियों से अपनी उत्कृष्टता का प्रमाण देना होगा । हमारा उदाहरण ही दूसरे अनेक लोगों को अनुकरण का साहस प्रदान करेगा । वाणी और लेखनी के माध्यम से लोगों को किसी बात की, अध्यात्मवाद की भी जानकारी कराई जा सकती है । इससे अधिक भाषणों का कोई उपयोग नहीं । दूसरों को यदि कुछ सिखाना हो तो उसका एक मात्र तरीका अपना उदाहरण प्रस्तुत करना है । यही ठोस, वास्तविक और प्रभावशाली पद्धति है । दूसरों को बदलना हो तो सबसे पहले हमें अपने को बदलना चाहिये । दूसरों को स्वार्थपरता से विरत होकर परमार्थ पथ पर चलने की चिरस्थाई प्रेरणा देनी हो तो उसका शुभारम्भ अपनी रीति–नीति को तृष्णा और वासना के जंजाल से ऊँची उठी हुई बनाकर ही करना चाहिये ।

युग–परिवर्तन व्यक्ति–परिवर्तन से आरम्भ होता है । प्रबुद्ध परिजनों में से प्रत्येक को हर दिन, हर घड़ी यह प्रश्न करना चाहिये कि क्या इस प्रकार का प्रकाश और उत्साह अपने भीतर उत्पन्न होने लगा है । यदि हाँ तो समझना चाहिये कि अपनी गणना महाकाल के देव पार्षदों में होने की पूरी–पूरी सम्भावना है । तब हम अपना ही नहीं इस विश्व वसुन्धरा की सुरक्षा और सुन्दरता बढ़ाने का शाश्वत श्रेय प्राप्त करेंगे ।

भावी देवासुर संग्राम और उसकी भूमिका

प्राकृत रूप से मनुष्य एक दुर्बल किस्म का पशु है । जिस प्रकार अन्य पशु पेट पालते, प्रजनन करते और परिस्थितियों का भला-बुरा प्रभाव भोगते हुए जीवन यापन करते हैं वैसे ही मनुष्य भी पैदा होता, अपनी जिन्दगी के दिन गुजारता, बढ़ता और मरता है । इस स्तर के हर व्यक्ति को नर पशु कहा जा सकता है । न उसके सामने कुछ लक्ष्य, न आदर्श, न उद्देश्य, न कर्तव्य, जैसे बने वैसे दिन गुजारने भर की बात वह सोचता है और परिस्थितियों के जुए में जुता हुआ अन्य असंख्य मरणधर्मा प्राणियों की तरह मौत के मुख में चला जाता है । जनसंख्या में लगभग आधे इसी स्तर के पाये जाते हैं ।

नर-पशुओं के जीवन में जो थोड़ा-बहुत आकर्षण है वह उनके निजी स्वार्थ का है । वे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति, आकांक्षाओं की तुष्टि, अभावों की निवृत्ति के लिये यत्किंचित पुरुषार्थ करते हैं । जिनके सामने यह आकर्षण भी नहीं होता वे भूख, अभाव, दण्ड, असहयोग, तिरस्कार आदि प्रताड़ना का भय मानकर ही थोड़ा बहुत पुरुषार्थ करते हैं अन्यथा यदि इस प्रकार की बाधायें न हों तो उन्हें जड़ जीवन बिताने में तनिक भी संकोच न हो । जिसने इस स्तर का जीवन बिताया उन्होंने अपने प्रति एक भारी अत्याचार किया, यही मानना होगा ।

यह स्वार्थपरता जब उद्धत, उच्छृंखल, दुष्ट एवं आक्रमणकारी हो जाती है और मनुष्य किसी को भी, किसी भी प्रकार सताकर अपना लाभ उठाने एवं अहंकार पूरा करने के लिये निर्लज्जतापूर्वक कटिबद्ध हो जाता है तब उसे नर-पिशाच कहते हैं । यों मोटे तौर से हत्यारे, कसाई, आततायी, झगड़ालू, गुण्डे, निर्दय, क्रूरकर्मा आदि लोगों के लिये नर-पिशाच शब्द का प्रयोग किया जाता है, पर अब इसका परिष्कृत संस्करण तैयार हो गया है । उसमें ऐसी प्रत्यक्ष दुष्टता करने, कानून की पकड़ में आने और निन्दा का पात्र बनने की जरूरत नहीं पड़ती । लोग बाहर से सज्जनता का लबादा ओढ़े रहते हैं और भीतर ही भीतर ऐसी छुरी चलाते

रहते हैं जिससे असंख्यों का सर्वनाश होता है । उदाहरण के लिये मादक द्रव्यों के उत्पादन, प्रसार एवं व्यवसाय मे लगे मनुष्य बाहर से सीधे–साधे से लगते हैं पर उनका मस्तिष्क, धन तथा पुरुषार्थ कितने लोगों का, किस बुरी तरह आर्थिक, नैतिक, शारीरिक नाश करता है, इसका कोई लेखा–जोखा तैयार किया जाय तो प्रतीत होगा कि उन्होंने लाखों मनुष्यों के जीवन में दुष्प्रवृत्तियों का बीज बोकर पतन के लिये जो व्यापक पथ प्रशस्त किया उस हानि का विवरण कितना रोमांचकारी है । ऐसे–ऐसे उदाहरण संगठित एवं व्यक्तिगत प्रयासों के भरे पड़े हैं जिनसे प्रतीत होता है कि स्वार्थपरता यदि अनियंत्रित हो तो वह कितनी भयंकर हो सकती है । चोरी, जेबकटो के पुराने, फूहड़–गन्दे तरीके अब गँवारों के हिस्से में चले गये हैं । शिक्षित लोगों ने ऐसी तरकीबें खोज निकाली हैं जिससे होता वही सब कुछ है पर पता किसी को नहीं चलता । रिश्वतें अब एक दस्तूर बन गयी हैं । असली में नकली की मिलावट अब हेय नहीं मानी जाती वरन् उसे "व्यापार चातुर्य" कहा जाता है । व्यक्तिगत जीवन में लोग कितने नीरस, कितने स्वार्थी, कितने विश्वासघाती और कितने निर्लज्ज हैं इसका परिचय बाहर से तो नहीं मिलता, पर उनके दाम्पत्य जीवन की, पारिवारिक सौहार्द की अथवा सम्बन्धित व्यक्तियों की अनुभूतियों का पता लगाया जाय तो इन तथाकथित सफेदपोशों की काली कालिमा सामने आती है । इन्हें नर–पिशाच नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ?

जन–साधारण में असुर और देव के बारे में बड़ी भ्रान्त धारणायें जड़ जमाये बैठी हैं । असुरों के बारे में माना जाता है कि उनका मुँह काला होता है, दाँत बड़े होते हैं, पशुओं की तरह सींग उगे होते हैं । देवताओं के बारे में मान्यता है कि वे गौरवर्ण, आनन्दधाम, स्वर्ग के निवासी, भक्त की सहायता के दौड़ आने वाले होते हैं । यह वर्णन अलंकारिक है । किसी अन्तरिक्ष लोक में इस प्रकार के प्राणी पाये जाने की सम्भावना नहीं । न इस पृथ्वी पर ही ऐसे जीवों का अस्तित्व देखा जाता है, न प्राचीनकाल में था । मनुष्य की आन्तरिक व्यवस्थाओं के आधार पर ही यह देवदानव चित्रण अलंकारिक रूप से किया गया है । मुँह काला अर्थात् कलंक कालिमा, अपयश, निन्दा से आच्छादित घृणित जीवन ।

बड़े दाँत अर्थात् अधिक खाने, अधिक भोगनेकी दुष्प्रवृत्ति । सींग अर्थात् दूसरे के साथ दुष्टता का बरताव करने की, सताने, टोंचने, मर्माहत करने की आदत । यह दुर्गुण जिस भी मनुष्य में हों, उसे असुर कहना चाहिये, भले ही वह रंग का गौरवर्ण, रूपवान् ही क्यों न हो । इसी प्रकार जिनमें उदारता, संयम, परमार्थ, सेवा जैसी सत्प्रवृत्ति बढ़ी-चढ़ी हों उन्हें देव कहना चाहिये । देव सदा पूजे जाते हैं उनका यश गाया जाता है, उनके सेवापूर्ण कर्तृत्व से असंख्य प्राणियों के शोक-संताप में कमी होती है । यह विभाजन आज भी आत्म-निरीक्षण करने वाले को यह बता सकता है कि वह असुर है या देव । उनका समय, श्रम, धन, चिन्तन कितना स्वार्थ सँजोने में लगता है, कितना परमार्थ प्रयोजन में ? इसका लेखा-जोखा हम स्वयं ही तैयार कर सकते हैं, क्योंकि बाहर वालों को असलियत मालूम नहीं होती । हमारी अन्तरंग स्थिति ही हमें देव अथवा असुर वर्ग की पंक्ति में बैठा सकती है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परिवर्तन की भावी घड़ियों में हमें महाकाल की ऐड़ी से कुचले जाने का दण्ड भोगना है अथवा ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में संलग्न पार्षदों की पंक्ति में खड़े होकर विजय का वरण करना होगा ।

नर-पशुओं और नर-पिशाचों का बाहुल्य जब कभी भी संसार में होगा तो विपत्तियाँ आयेंगी और अगणित प्रकार की विभीषिकायें उत्पन्न होंगी । यह अभिवृद्धि जब चिन्ताजनक स्तर तक पहुँच जाती है तो ईश्वर की इस परमप्रिय सृष्टि के लिये सर्वनाश का खतरा उत्पन्न हो जाता है । इसी को बचाने के लिये उन्हें हस्तक्षेप करना पड़ता है, अवतार लेना पड़ता है । गीता में इस तथ्य का भगवान् ने स्पष्टीकरण किया है-"जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की अभिवृद्धि होती है तब साधुता का संरक्षण और दुष्टता का उन्मूलन करने के लिये मैं आत्मा का सृजन करता हूँ ।"

अनैतिकता की दुरभिसन्धि का उन्मूलन करने के लिये एक व्यक्ति नहीं वरन् एक वर्ग ही समर्थ हो सकता है । इसलिये इन विषम परिस्थितियों में सदा ही एक ऐसे वर्ग को सतेज होना पड़ता है, जिसे अध्यात्म-भाषा में देव अथवा नर-नारायण और बोलचाल की भाषा में परमार्थ-परायण, सज्जन, महापुरुष, नर-रत्न कहते हैं । यों इस वर्ग का

अस्तित्व सदा बना रहता है । पृथ्वी धर्मात्माओं, सज्जनों, परमार्थियों और ईश्वर भक्तों से कभी रहित नहीं होती, पर देखा यह जाता है कि असुरता की बाढ़ में यह दैवत्व शिथिल पड़ जाता है । ग्रीष्म के आतप से जैसे दूब घास जल जाती है उसी प्रकार प्रोत्साहन न मिलने के कारण देवत्व की प्रवृत्ति भी सूख जाती है किन्तु जब भी सन्तुलन को स्थापित करने के लिये महाकाल का अभियान आरम्भ होता है तो यह विश्रृंखलित, मूर्च्छित एवं उपेक्षित देव-श्रद्धा वर्षा के जल से हरी हुई दूब की तरह पुनः सजीव होकर अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगती है ।

असुरता के अभिवर्धन को नियन्त्रित करने के लिये समय-समय पर देवत्व को सक्रिय एवं संघर्षरत होना पड़ा है । पौराणिक उपाख्यानों में इस तथ्य का पन्ने-पन्ने पर प्रतिपादन है । १८ पुराणों और १८ उपपुराणों में देवासुर संग्राम की सहस्रों कथायें विद्यमान हैं । छल-बल में असुर तगड़े पड़ते हैं, फिर भी ईश्वरीय सहायता देव-वर्ग को मिलती है और अन्ततः वही जीतता है । असुरता को हर इतिहास में पराजय का ही मुँह देखना पड़ा है । दुष्टता के पास छल-बल से एकत्रित साधन बहुत होते हैं इसलिये कुछ उसका आतंक ऐसा छाया रहता है कि सर्वसाधारण को प्रतिरोध का साहस नहीं होता । किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रहती, सृष्टि का सन्तुलन न बिगड़ने देने में सतर्क भगवान् यथासमय देव-वर्ग को सजग करते हैं, उसमें प्राण फूँकते हैं और देखते-देखते सामान्य प्रतीत होने वाले मनुष्य असामान्य उत्कृष्टता की भूमिका प्रस्तुत करने लगते हैं । निराशा, आशा में बदल जाती है । इन दिनों भी यही सब कुछ होने जा रहा है । पौराणिक देवासुर संग्राम की महती श्रृंखला में एक कड़ी अब और भी जुड़ने वाली है । अगले ही दिनों एक ऐसा बवण्डर सामने आने वाला है, जिससे असुरता का उन्मूलन और देवत्व का अभिवर्धन जो आज असम्भव लगता है कल की बदली हुई परिस्थितियों में पूर्ण सम्भव दीखने लगेगा ।

नर-पशुओं को भी यों असुरों में ही गिना जाता है क्योंकि वे उपद्रव की शक्ति न रखते हुए चलते अशिष्टता की राह पर हैं । मनुष्य जीवन के कुछ कर्तव्य हैं और कुछ उत्तरदायित्व । उन्हें पूरा न करके

जानवरों की तरह पेट पालने और प्रजनन करने वाली नीति को अपनाये रहना मनुष्यता को कलंकित करता है । नियन्त्रण के अभाव में पशुता के जितने कदम आगे बढ़ते है वे कुमार्ग की ओर ही होते हैं । इसलिये इस वर्ग की गणना भी धरती के बोझ वर्ग में ही की जाती है ।

नर–पिशाच और नर–पशु दोनों मिलकर एक असुर–वर्ग बनता है और यही संसार में सब प्रकार के संकट उत्पन्न करने के लिये जिम्मेदार है । जिस प्रकार नगर भर की गंदगी को स्वच्छ करने का पवित्र उत्तरदायित्व हरिजन वर्ग उठाता है उसी प्रकार असुरता के द्वारा उत्पन्न की गयी समस्त विकृतियों और विपत्तियों के निवारण करने का भार देव–वर्ग पर रहता है । इस कार्य को यों वे सदा ही करते रहते हैं, न करें तो पाप के पहाड़ जमा हो जायें और दस–बीस वर्ष में ही यह दुनियाँ रहने के लायक न रहे । पर इस सफाई की भारी आवश्यकता तब युद्ध स्तर पर करनी पड़ती है, जब नगर में हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया जैसे संक्रामक रोग फैलने का खतरा सामने प्रस्तुत होता है, उन दिनों तो चौगुने–सौगुने उत्साह से यह सफाई का कार्य पूरा किया जाता है । सेना के प्रहरी यों सदा ही सतर्क रहते हैं, पर जब कभी शत्रु के आक्रमण का खतरा सम्मुख होता है, तब सीमा रक्षक सैनिकों को चौगुनी सतर्कता एवं जिम्मेदारी का परिचय देना पड़ता है । इन दिनों हैजा फैलने और शत्रु के आक्रमण से भी भयंकर खतरा मानव समाज के सम्मुख उपस्थित है । असुरता के उपदेश की प्रतिक्रिया संसार के कोने–कोने में कुहराम उत्पन्न किये हुए है । इस अवांछनीय स्थिति का निराकरण करने की जिम्मेदारी देव–वर्ग की है, उन्हें ही उठानी होगी । अनादि काल से यही होता चला आया है । असुरता के उपद्रवों का समाधान करने के लिये देवता सजधज के साथ मैदान में आते रहे । इसी के फल से देवासुर संग्राम हुए हैं और फलतः ईश्वरीय संरक्षण में देवताओं की विजय के साथ "परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्" का प्रयोजन पूर्ण ही हुआ है । यही अब फिर से होने जा रहा है ।

असुरता तब बढ़ती है जब उसकी प्रतिरोधी दैवी प्रकृति शिथिल पड़ जाती है । रात्रि तब आती है जब सूर्य अस्त हो जाता है । जहाँ प्रकाश

होगा वहाँ अन्धकार कहाँ टिक सकेगा । इसी प्रकार आदर्शवादी उत्कृष्ट भावनायें जब मनुष्य के भीतर तीव्र लहरें उठाती रहती हैं, तब असुरता को पैर टिकाने का अवसर नहीं मिलता । पशुता के लिये कोई अवसर नहीं रहता । देवत्व को प्रबल परिपुष्ट बनाने से वह वातावरण स्वतः तैयार होता है जो असुरता का उन्मूलन करके रख दे । इसमें संघर्ष के अवसर भी आते हैं । चींटी के पंख मरते समय ही उगते हैं, तब वह दीपक को बुझाने के लिये उस पर आक्रमण करती है और इस दुष्प्रयत्न में स्वयं ही जल मरती है । देवत्व के प्रबल परिपुष्ट होने पर आसुरी तत्व भी ऐसे ही आक्रामक बनते हैं अन्ततः अपनी कुचेष्टाओं के फलस्वरूप विनाश के गर्त में गिर कर नष्ट हो जाते हैं ।

देवत्व का जागरण एवं पोषण करने की तैयारी ही वह प्रयत्न है जिसके फलस्वरूप वर्तमान असुर–अन्धकार का निराकरण होगा । परिपुष्ट देवत्व से वह व्यापक प्रभाव उत्पन्न होगा, जिससे प्रभावित होकर लोग पशुता और पिशाच वृत्ति का दुष्परिणाम समझ सकने योग्य विवेक एवं उन दुष्प्रवृत्तियों को त्याग सकने योग्य साहस कर सकें । देवत्व की बढ़ी हुई प्रखरता मानवीय मन पर आच्छादित समस्त कषाय कल्मषों को धोकर रख देगी और यही आज नरक बनी हुई धरती कल स्वर्गीय सुख–शान्ति से सुसज्जित होगी ।

अगले दिनों देवासुर संग्राम होने वाला है उसमें मनुष्य और मनुष्य आपस में नहीं लड़ेंगे वरन् आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों में जम कर अपने–अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष होगा । असुरता अपने पैर जमाये रहने के लिये, देवत्व अपनी स्वर्ग सम्भावनायें चरितार्थ करने के लिये भरसक चेष्टा करेंगे । इस विचार संघर्ष में देवत्व के विजयी हो जाने पर वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी, जिनमें हर व्यक्ति को उचित न्याय, स्वातन्त्र्य, उल्लास, साधन और सन्तोष मिल सके ।

असुरता इन दिनों अपने पूर्ण विकास पर है । देवत्व, सुषुप्त और विश्रृंखलित पड़ा है । आवश्यकता इस बात की है कि देवत्व जगे, संगठित हो तो युग की आवश्यकता एवं ईश्वरीय आकांक्षा की पूर्ति के लिये कटिबद्ध हो । जिन आत्माओं में दैवी प्रकाश का आवश्यक अंश विद्यमान

है उनकी अन्तरात्मा में युग की पुकार सुनने और अपने पुनीत कर्तव्य की दिशा में अग्रसर होने की अन्तः पुकार उठ रही है, पर अभी वह इतनी धीमी है कि प्रोत्साहन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है । युग निर्माण योजना के अन्तर्गत यही प्रयोजन पूरा किया जा रहा है ।

आशा करनी चाहिये कि वह दिन हम लोग अपनी इन्हीं आँखों से इसी जीवन में देखेंगे जवकि अगणित देव प्रवृत्ति के व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों को तिलांजलि देकर विश्व के नव-निर्माण में ऐतिहासिक महापुरुषों की तरह प्रवृत्त होंगे और इन दिनों जिस पशुता एवं पैशाचिक प्रवृत्ति ने लोक-मानस पर अपनी काली चादर बिछा रखी है उसे तिरोहित करेंगे । अनाचार का अन्त होगा और हर व्यक्ति अपने चारों ओर प्रेम, सौजन्य, सद्भाव सहयोग, न्याय, उल्लास, सुविधा एवं सज्जनता से भरा सुख शान्तिपूर्ण वातावरण अनुभव करेगा ।

उस शुभ दिन को लाने का उत्तरदायित्व देव वर्ग का है । उसी को जगना है, उसी को संगठित होना है, उसी को अविवेक के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर होना है । वे जितने कम समय में अपना उत्तरदायित्व वहन करने को तत्पर हो सकें, उतना ही शीघ्र नवयुग का स्वर्णिम प्रभात उदय होते हुए हम देखेंगे और धन्य होंगे । ●

भावनात्मक परिवर्तन का एक मात्र प्रयोग साधन

मनुष्य शरीर में प्रसुप्त देवत्व का जागरण करना ही आज की सबसे बड़ी ईश्वर पूजा है । युग धर्म इसी के लिये प्रबुद्ध आत्माओं का आह्वान कर रहा है । नवयुग निर्माण की आधारशिला यही है । जिस असुरता की दुष्प्रवृत्तियों ने संसार को दुःख दारिद्रय भरा नरक बनाया, जिस अविवेक ने परमात्मा के पुत्र आत्मा को निकृष्टतम कीड़े से गये गुजरे स्तर पर ला पटका, उसका उन्मूलन देवत्व के अभिवर्धन से ही होना है । अन्धकार को मिटाने के लिये प्रकाश उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । मनुष्य की आन्तरिक संकीर्णता एवं अविवेक ग्रस्त स्थिति का अन्त किये बिना उज्ज्वल भविष्य की आशा अन्य किसी प्रकार नहीं की जा सकती ।

धन वैभव बढ़ने से नहीं, सद्भाव बढ़ने से मानवीय गौरव का पुनरुत्थान सम्भव होगा।

इस महान् कार्य को भौतिक स्तर पर किये गये उथले क्रिया–कलापों द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता। इनके लिये अधिक गहराई में उतरना होगा और उस स्तर पर प्रयत्न करना होगा जहाँ से मानवीय अन्तःकरण को स्पर्श एवं प्रभावित किया जा सके। अध्यात्म ही वह आधार हो सकता है। मनुष्य की प्रकृति को बदलने और गतिविधियों को उलटने का कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन तभी होगा जब उसका अन्तःकरण बदले और अन्तःकरण का परिवर्तन मात्र भौतिक साधनों एवं प्रयत्नों से सम्पन्न नहीं हो सकता। रक्त वाहिनी नाड़ियों में कोई औषधि प्रवेश करने के लिये इन्जेक्शन की सुई ही उपयुक्त होती है, इसी प्रकार मानवीय अन्तःकरण को प्रभावित करने की प्रक्रिया आध्यात्मिक भावनाओं के माध्यम से ही सम्पन्न की जाती है।

यों चाहते सभी हैं कि समाज में फैली हुई बुराइयाँ दूर हों और व्यक्ति अधिक ईमानदार बने। इसके लिये वही दो मोटे उपकरण सूझ पड़ते हैं, जो आमतौर से अन्य जानकारियाँ बढ़ाने के लिये काम में लाये जाते हैं–लेखनी और वाणी। इन्हीं दो साधनों से स्कूलों में बच्चों को हिसाब, भूगोल, इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है। कृषि, शिल्प, स्वास्थ्य आदि विषय की जानकारी भी आमतौर से इन्हीं माध्यमों से मिलती है। नेता लोग कोई आन्दोलन भी इन्हीं साधनों से चलाते हैं। प्रचार आज का एक शक्तिशाली साधन माना जाता है। जनसाधारण को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिये विज्ञापनबाज व्यापारियों से लेकर धर्मोपदेशक और राज–नेता तक इन्हीं दो साधनों को काम में लाते हैं।

पिछले बहुत दिनों से मानवीय प्रवृत्ति को पतन से उत्थान की ओर मोड़ने के लिये कुछ प्रयत्न छुट–पुट आन्दोलन के रूप में चलते रहे हैं सो उनका थोड़ा बहुत प्रभाव भी देखा है, पर वह था उतना ही नगण्य जिसके आधार पर कोई बड़ी आशा नहीं की जा सकती। कारण यही रहा है कि प्रयत्नकर्त्ता यह भूलते रहे हैं कि जिस बात की जानकारी न हो उसे लेखनी, वाणी से जताया जा सकता है पर जिसे जानते तो हैं, पर मानते

नहीं, उसे मनवाने के लिये कुछ अधिक ऊँचे एवं अधिक शक्तिशाली माध्यम अपनाने की आवश्यकता है । सर्व साधारण को दया, धर्म, सदाचार, संयम, भक्ति आदि का महत्त्व माहात्म्य मालूम न हो या वे उसे अस्वीकार करते हों ऐसी बात नहीं । वे दूसरों को उपदेश भी इन बातों का देते हैं, पर कठिनाई यह है कि स्वयं उस पर चल नहीं पाते, यह असमर्थता और दुर्बलता उनके शरीर मन आदि की नहीं वरन् अन्तःकरण की है, इसलिये उपचार भी उसी दुर्बल अंग का किया जाना चाहिये । गुर्दे की बीमारी पैरों में तेल लगाने से दूर नहीं हो सकती । जो व्यथित अंग है उस तक उपचार का प्रभाव पहुँचे तब कुछ काम चले । लेखनी और वाणी जो घिसे-पिटे शब्दों में पेशेवर लोगों द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं, मस्तिष्क तक एक छोटी लहर पहुँचा कर वायु मण्डल में तिरोहित हो जाती हैं । देखा जाता है कि घिसे-पिटे प्रचारात्मक प्रयत्न मानवीय अन्तःकरण को वासना, तृष्णा के आकर्षणों से विरत कर पवित्रता और परमार्थ की दिव्य ज्योति उत्पन्न करने में प्रायः असफल ही रहते हैं । हममें से अनेकों ने सद्भावनापूर्वक कितने ही सुधारात्मक प्रयत्न आरम्भ किये हैं पर उनका स्तर उथला था, साधन हलके थे, इसलिये थोड़ी-सी छटा दिखा करके वे और उनका प्रतिफल भी अन्तर्धान होता रहा । समस्त मानव समाज में एक व्यापक और सशक्त हलचल उत्पन्न कर सकने की, पतन के प्रचण्ड प्रवाह को पलट सकने की क्षमता केवल उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रयोगों से ही होती है और उनका जब कभी भी ठीक तरह प्रयोग हुआ है, अभीष्ट परिणाम भी सामने आया है । इस स्तर के प्रयोग कभी असफल नहीं हो सकते ।

भारत के वर्चस्व का इतिहास उसके आत्म-बल की सफलता का उद्घोष है । चिर अतीत में हमारे महान् ऋषि ही इस देश की महान् परम्पराओं के निर्माता रहे हैं । उनके पास भौतिक साधन कम थे पर आत्मबल इतना प्रचण्ड था कि वे जनसमूह को अपने प्रवाह में एक निर्धारित समय में उसी प्रकार बहा ले चलते थे, जिस प्रकार प्रबल वेग से बहती हुई नदियाँ तिनकों को अपने साथ बहते चलने के लिये विवश कर देती हैं । कीचड़ में फँसे हाथी को सहस्रों मेंढकों की चेष्टा भी उबार

नहीं पाती, उसे समर्थ हाथी ही युक्तिपूर्वक मजबूत रस्सों की सहायता से बाहर निकाल पाते हैं । आन्तरिक दुर्बलता का अभाव आत्म-बल सम्पन्न लोगों के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है । ऋषियों ने यही किया । चूँकि वे स्वयं प्रकाशवान् थे, इसलिये उन्होंने अपने समस्त क्षेत्र को प्रकाशित कर दिया । कहना न होगा कि इस देश के निवासी जिन दिनों आध्यात्मिक मान्यताओं और भावनाओं से प्रभावित थे, उन दिनों इस धरती पर स्वर्ग बिखरा पड़ा था, हर मनुष्य के भीतर देवत्व झाँकता था और उस लाभ की लोभ लालसा से समस्त विश्व के लोग भारतवासियों का मार्गदर्शन, सहयोग एवं प्रकाश पाने के लिये लालायित रहते थे । इन्हीं विशेषताओं के कारण, भारतीय संस्कृति समस्त विश्व का सर्वोत्तम आकर्षण बनी हुई थी ।

प्रकाश स्तम्भों के बुझ जाने पर अन्धकार फैल जाना स्वाभाविक है । जैसे-जैसे उच्च आत्म-बल सम्पन्न हस्तियाँ घटती गयीं वैसे-वैसे जन-मानस की उत्कृष्टता भी गिरती गयी । इस गिरावट को ओछे लोग प्रचारात्मक साधनों से रोक नहीं सकते थे और वे रोक भी नहीं सके । हम अपने लम्बे इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो उच्च आत्म-बल सम्पन्न आत्माओं के अवतरण अवसाद के साथ-साथ जन-मानस का उत्थान पतन भी जुड़ा हुआ देखते हैं । जिन दिनों महापुरुष जन्मे उन दिनों कोई भी युग बीत रहा हो सतयुग का वातावरण उत्पन्न हुआ है । भगवान् राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, गाँधी आदि की विचारधारा से कोटि-कोटि लोग प्रभावित हुए । समर्थ गुरु गोविंदसिंह आदि की प्रेरणा से लोगों ने एक-से एक बढ़े-चढ़े त्याग, बलिदान प्रस्तुत करने में प्रतिस्पर्द्धा उपस्थित कर दी । अभी कल परसों गाँधी की आँधी में लाखों लोगों ने जिस आदर्शवादिता का परिचय दिया उससे यह मान्यता सार्थक सिद्ध हुई है कि उच्चस्तरीय आत्म-बल सम्पन्न आत्मायें ही जन-मानस की दिशा बदल देने में समर्थ हो सकती हैं । मामूली प्रचार साधन उपयोगी तो हैं पर उतने भर से इस दिशा में कोई प्रभावी परिणाम नहीं हो सकता ।

भावी नव-निर्माण में अध्यात्म को ही प्रमुख भूमिका सम्पन्न करनी पड़ेगी । प्रभात काल की शुभ सूचना लाने वाली ऊषा के साथ-साथ और

प्रयास आरम्भ भी हो गये हैं । श्रीरामकृष्ण परमहंस और योगी अरविन्द की तपश्चर्या का यदि कोई रहस्योद्घाटन कर सके तो उसे लगेगा कि पिछली शताब्दी की सारी राजनैतिक और सुधारात्मक चेतनाओं का सूत्र संचालन इन दो दिव्य आत्माओं ने किया, कठपुतली कितनी ही पर्दे पर आती जाती रहीं और उसके विभिन्न अभिनय लोगों में उत्साह उत्पन्न करते रहे पर उनके सूत्र इन आत्म-बल के धनी महामानवों द्वारा ही संचालित होते रहे । भारत का हजार वर्ष की गुलामी से मुक्त होना और कतिपय सुधारात्मक चेतनाओं का उद्भव अपने सामने इस शताब्दी की दो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं । इनका प्रत्यक्ष श्रेय किनको मिला किनको नहीं मिला, इस विवाद में पड़ने से बचकर भी हमें यह जान ही लेना चाहिये कि इस महान् जागरण के पीछे कुछ विशिष्ट अविदित रहस्यमय आध्यात्मिक शक्तियाँ भी काम कर रही थीं । आगे जो महान कार्य फैला पड़ा है, नये युग का जो नया निर्माण होने वाला है उसमें भी अध्यात्म की, अध्यात्म-बल सम्पन्न उच्चस्तरीय महामानवों की प्रधान भूमिका होगी । प्रत्यक्ष श्रेय भले ही किन्हीं को इतिहासकार देते रहें ।

विश्व का भावी नवनिर्माण मानवीय उत्कृष्टता के अभिवर्धन पर अवलम्बित होगा । इसके लिये प्रेरक केन्द्र कोई भी क्यों न हो, उसे सहस्रों सहयोगियों की आवश्यकता पड़ेगी । वे भले ही ऊँची योग्यताओं के न हों पर आत्मिक उत्कृष्टता की विशेषता तो अनिवार्य रूप से होनी ही चाहिये । इन दिनों इसी उत्पादन को सबसे बड़ा कार्य माना जाना चाहिये ।

पूर्व जन्मों की अनुपम आत्मिक सम्पत्ति जिनके पास संग्रहीत है ऐसी कितनी ही आत्मायें इस समय मौजूद हैं । पिछले कुछ समय से अनुपयुक्त परिस्थितियों में पड़े रहने से इन फौलादी तलवारों पर जंग लग गयी । इस जंग को छुड़ाने की प्रक्रिया युग निर्माण योजना के प्रस्तुत कार्यक्रमों के अन्तर्गत चल रही है । आशा करनी चाहिये कि अगले तीन वर्षों में यह प्रयोजन पूर्ण कर लिया जायगा । इन दिनों जो व्यक्ति बिलकुल साधारण स्तर के दिखाई पड़ते हैं और जिनसे किसी बड़े काम की सम्भावना नहीं मानी जा सकती, ऐसे कितने ही व्यक्ति असाधारण प्रतिभा और क्षमता लेकर कार्यक्षेत्र में उतरेंगे और नव-निर्माण का महान् कार्य जो आज एक

स्वप्न मात्र दिखाई पड़ता है, कल मूर्तिमान सचाई के रूप में प्रस्तुत करते परिलक्षित होंगे ।

मनुष्य के आवरण के भीतर प्रसुप्त स्थिति में एक प्रबल देवता विद्यमान है । इसे जगाया जा सके तो फिर असम्भव जैसी कोई बात शेष नहीं रहेगी । देवत्व के जागरण का हमारा वर्तमान अभियान संसार का भावनात्मक नव-निर्माण करने में सफल होकर रहेगा, क्योंकि उसका आधार उथले ओछे प्रचार उपकरण नहीं वरन् आत्म-शक्ति के वही प्रयोग होंगे जो समय-समय पर असंख्य बार सफल होते रहे हैं । ⊙

देवत्व के जागरण की सौम्य साधना पद्धति

जड़ और चेतन तत्वों के सम्मिश्रण से बने मनुष्य की स्थूल शारीरिक व्यवस्था तो एक सीमा तक लोगों ने जानी है और आहार-विहार की अनुकूलता उपलब्ध कर स्वस्थ एवं सुन्दर बनने का यथा सम्भव प्रयत्न किया है, किन्तु चेतन तत्व की, सूक्ष्म और कारण शरीर की व्यवस्था कैसे रखी जाय इसे कोई बिरले ही जानते हैं । इस ज्ञान के अभाव में मानव जीवन के द्वारा उपलब्ध हो सकने वाले महत्वपूर्ण लाभों से हम प्रायः वंचित ही रह जाते हैं ।

मानुषी अस्तित्व को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है । (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण । अध्यात्म शास्त्र में मनुष्य के यह तीन शरीर बताये गये हैं । जिस प्रकार केले के तने को चीरने पर उसमें एक के भीतर एक पर्त निकलती हैं, प्याज के छिलके उतारते चलने पर उसके भीतर और छिलके निकलते हैं उसी प्रकार आँखों से दीखने वाले रक्त-माँस से बने स्थूल शरीर के भीतर एक कारण शरीर का अस्तित्व विद्यमान है । जिस प्रकार हम शरीर के ऊपर बनियान, उसके ऊपर जाकिट पहिनते हैं, उसी प्रकार आत्मा ने भी अपने ऊपर उपरोक्त तीन आवरण धारण किये हुए हैं ।

स्थूल शरीर वह है जिससे हम खाने, सोने, चलने, बोलने आदि की क्रियायें सम्पन्न करते हैं । जो माँ के पेट से आरम्भ होता है और श्मशान

में समाप्त हो जाता है । सांसारिक जीवन इसी से चलता है । रोटी कमाने, शुभ, अशुभ कर्म करने, इन्द्रिय सुख भोगने आदि प्रयोजन इसी शरीर से पूरे होते हैं । इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारियाँ प्राप्त भी कर ली गयी हैं ।

इसके भीतर सूक्ष्म शरीर है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चार वर्गों में विभाजित अन्तःकरण मनुष्य का एक प्रकार से सूक्ष्म शरीर ही है । विचारणा, प्रतिभा, स्फूर्ति, आकांक्षा, अभिरुचि, क्रीड़ा जैसी मानसिक गतिविधियाँ इसी शरीर में सन्निहित हैं । यों यह आवरण स्थूल शरीर में दूध में घुले हुए घी की तरह समाविष्ट है, फिर भी इसका प्रधान स्थल मस्तिष्क माना गया है ।

तीसरा कारण शरीर आत्मा के अति समीप होने के कारण उच्चस्तरीय दिव्य भावनाओं का आधार है । उसमें केवल भावनायें संचारित होती हैं । जिनका आन्तरिक अधःपतन अत्यधिक हो चुका है, उनको छोड़कर शेष सभी के कारण शरीर में दया, प्रेम, करुणा, सेवा, संवेदना, धर्म, कर्तव्य, संयम और उच्च भाव उठते रहते हैं । जिनने दुष्टता में परिपक्वता प्राप्त कर ली है, उन्हीं का कारण शरीर नर–पिशाचों जैसी–'कनपटी मार बाबा' जैसी कुचेष्टायें करने पर सहमत हो जाता है ।

तीन शरीरों का संक्षिप्त परिचय यहाँ इसलिये दिया गया है कि मानव जीवन में देवत्व की सर्वांगीण प्रतिष्ठापना का वैज्ञानिक स्वरूप समझने में हमें सुविधा हो । युग परिवर्तन की नव–निर्माण प्रक्रिया उन व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न होगी, जिनमें देवत्व का प्रकाश समुचित मात्रा में प्रखर हो चला है । लेखक, वक्ता, नेता, अभिनेता, कलाकार, आन्दोलनकारी, प्रतिभावान् व्यक्ति अपने साधनों के आधार पर कुछ समय के लिये चमत्कार जैसा जादू खड़ा कर सकते हैं, पर उसमें स्थिरता तनिक भी न होगी । बालू की दीवार की तरह उनकी कृतियाँ देखते–देखते धूल–धूसरित हो जाती हैं और जिसका आज बहुत जयघोष था, कल उसके अस्तित्व का पता लगाना भी कठिन हो जाता है । स्थिरता तो सचाई और आत्मबल की गहराई में सन्निहित है । युग निर्माण जैसे महान कार्य ठोस आधार की शिला पर ही प्रतिष्ठापित हो सकते हैं । उनका भारी उत्तरदायित्व सहन

करने की क्षमता केवल देवत्व सम्पन्न महामानवों में ही मिलेगी । अतएव नवनिर्माण के कर्णधारों सूत्र संचालकों, सेनानायकों एवं दिग्पालों का देवत्व के प्रकाश से प्रकाशवान बनना या बनाया जाना आवश्यक है ।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की चर्चा इसलिये करनी पड़ी कि इन तीनों को समान रूप से देवत्व सम्पन्न बनाने से ही समग्र 'देवत्व की आवश्यकता पूरी होती है । इन तीनों को ठीक तरह साधने–सम्भालने का नाम 'साधना' है । साधना से ही मनुष्य में देवत्व का उदय होता है । यहाँ हमें यह भी जान लेना चाहिये कि उपासना प्राथमिक शिक्षा और साधना उच्चस्तरीय प्रशिक्षण है । भजन, पूजन, जप, ध्यान, व्रत, उपवास, कथा, कीर्तन आदि कर्मकाण्डपरक उपासना से मन की प्रवृत्ति माया से ब्रह्म की ओर मुड़ जाती है । ईश्वर के स्मरण और सान्निध्य की उपयोगिता प्रतीत होती है । आत्म–कल्याण का मार्ग मिलता है । इससे आगे का प्रयोजन साधना के द्वारा पूर्ण होता है । मनोवृत्तियों को वासना और तृष्णा के विरत कर संयम और परमार्थ में प्रवृत्त करना साधना का उद्देश्य है । इस मार्ग पर जो जितना आगे बढ़ जाता है उसकी उतनी ही आन्तरिक पवित्रता निखरती है और ईश्वरीय प्रकाश का दिव्य दर्शन होता है ।

मानवीय व्यक्तित्व में देवत्व का अधिकाधिक समावेश करने के लिये हर श्रेयार्थी को जीवन साधना का अवलम्बन लेना पड़ता है । साधना के दो वर्ग हैं – (१) विशिष्ट लोगों की, विशिष्ट प्रयोजन के लिये विनिर्मित विशिष्ट प्रक्रिया, (२) सर्व साधारण के लिये–सहज सुगम सौम्य पद्धति । विशिष्ट प्रक्रिया योगी, यती, एकान्तवासी, सांसारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त असाधारण मनोबल सम्पन्न, कठोर तपश्चर्या के लिये समुद्यत लोगों के लिये है । हठ योग, षट चक्र वेधन, कुण्डलिनी जागरण, लययोग, ऋतु योग, तन्त्र योग, प्राण योग आदि साधनायें इसी प्रकार की होती हैं । इनसे ऐसी चमत्कारी ऋद्धि–सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं जो किन्हीं विशेष अवसरों पर प्रयुक्त की जा सकें । सरकस के अभिनेता जिस प्रकार अपने शारीरिक कला कौशलों से दर्शकों को चमत्कृत कर देते हैं वैसे ही इन विशिष्ट साधन प्रक्रियाओं द्वारा ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं जो लोगों को अद्भुत चमत्कारी, आकर्षक एवं कौतूहल वर्धक प्रतीत हों ।

जिनके पास ऐसे चमत्कार होते हैं, उनसे लाभ पाने के लिये अनेक मनुष्य पीछे फिरते रहते हैं । सिद्ध पुरुष अपने अहंकार की पूर्ति कर लेते हैं और तत्कालीन कष्ट निवारण कर थोड़ा सन्तोष भी पा लेते हैं, किन्तु यह मार्ग कठिन बहुत है । भूल होने पर जोखिम भी बहुत है । इस एक ही काम का होकर मनुष्य रह जाता है, इसलिये इस मार्ग पर कोई बिरले ही चलते हैं । जो चमत्कारों के लोभ में कदम तो बढ़ा देते हैं पर साधना की कठिनाई और मार्ग की लम्बाई को देखकर अक्सर निराश हो बैठते हैं, उनमें से कितने ही असफलता की झेंप मिटाने की धूर्तता के आधार पर लोगों को चमत्कृत करने का निकृष्ट धन्धा अपना लेते हैं और अपना तथा दूसरों का पतन करते हैं ।

उपरोक्त मार्ग कुछ विशिष्ट परिस्थितियों वाले दुस्साहसी लोगों के लिये ही है । सर्व साधारण के लिये जो राजमार्ग प्रशस्त है उसमें आत्म-कल्याण, ईश्वर प्राप्ति और लोकमंगल की सभी सम्भावनायें विद्यमान हैं । जादूगरी जैसा चमत्कार भले ही न हो पर नर को नारायण की स्थिति तक पहुँचा देने का वास्तविक चमत्कार उसमें परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान है । आजीविका उपार्जन तथा सामान्य गृहस्थ जीवन यापन करते हुए इस साधना क्रम को अपनाया जा सकता है और बिना किसी कठिनाई के श्रेय पथ पर गतिशील रहा जा सकता है । इस सौम्य पद्धति को अपनाने के लिये ही शास्त्रकारों और ऋषियों ने सर्वसाधारण को प्रोत्साहित किया है ।

देवत्व के व्यापक जागरण के लिये यह सौम्य पद्धति ही काम में लाई जाती है । प्रस्तुत साधना के अन्तर्गत तीन प्रयोग हैं--(१) कर्म योग, (२) ज्ञान योग और (३) भक्ति योग । इन्हीं के द्वारा तीनों शरीर का संस्कार, परिष्कार, परिमार्जन, अभिवर्धन सम्भव होता है । स्थूल शरीर को ज्ञानयोग द्वारा और कारण शरीर को भक्तियोग द्वारा परिष्कृत किया जाता है । गीता में इसी योग क्रिया का वर्णन है । वेदों का प्रधान विषय कर्म, ज्ञान एवं उपासना ही है । धर्मशास्त्रों का विशालकाय कलेवर इस त्रिविध तत्व ज्ञान की विवेचना में ही खड़ा किया गया है । हमारी विचार पद्धति, कार्य पद्धति और भाव स्थिति में यदि इन आस्थाओं का समुचित समावेश हो सके तो निस्संदेह हम नर-पशु और नर-पिशाच की नारकीय

स्थिति से छुटकारा पाकर इसी शरीर से इसी जीवन में अपने अन्दर देवत्व का उद्भव हुआ देख सकते हैं ।

गायत्री परिवार की संस्कारवान आत्माओं पर पिछले दिनों जिस मल आवरण विक्षेप की कलुष परतें जमा हो गयी हैं, उनका परिमार्जन आवश्यक है, जिससे उनका देवत्व जगे और नवनिर्माण के महान उत्तरदायित्व को वहन कर सकने की क्षमता उत्पन्न हो । इस प्रयोजन के लिये उन्हें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग की एक सुसंतुलित क्रिया पद्धति का प्रशिक्षण दिया जा रहा है । ◉

स्थूल शरीर का परिष्कार–कर्मयोग से

स्थूल शरीर कुकर्म करने से असुरता के गर्त में गिरता है और सत्कर्म करने से उसे स्वर्गीय सुख–शान्ति का अनुभव होता है । अस्तु कुकर्मों से विरत कर सत्कर्मों के लिये प्रेरणा देना और पथ प्रशस्त करने के लिये कर्मयोग की सौम्य साधना पद्धति आप्त पुरुषों ने विनिर्मित की है ।

कर्म यदि ठीक तरह से किया जाय तो एक प्रकार से वह ईश्वर की पूजा का उत्कृष्ट उपकरण है, पर यदि उसमें स्वार्थपरता, उपेक्षा, अहंकृति, विकृति जैसे निकृष्ट तत्त्वों का समावेश हो तो फिर वही कुकर्म बन जाता है । मोटी दृष्टि से भले–बुरे कर्मों का वर्गीकरण किया जाता है जैसे चोरी, झूँठ, छल, व्यभिचार, उत्पीड़न, अनाचार, उत्तरदायित्व की अवहेलना आदि पाप और दया, दान, सत्य, सदाचार, सेवा, संयम आदि पुण्य कहे जाते हैं । पर इनकी वास्तविकता जाननी हो तो कर्त्ता की भावना का पता लगाना होगा । वस्तुतः जो कर्म जिस भावना से किया जाता है उसके अनुरूप उसका तात्त्विक स्वरूप बनता है और उसी आधार पर परिणाम उत्पन्न होता है । साधुता का दम्भ बनाये अनेक व्यक्ति भीतर–भीतर दुष्टता करते रहते हैं । नेता, धर्मोपदेशक, सन्त–महन्त आदि में से कितने ही बाहर से ऐसी कार्य पद्धति अपनाये होते हैं जिससे उनके धर्मात्मा होने का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, गहराई में देखने पर उनमें से कितनों ही के भीतर धूर्तता भरी पायी जाती है । ऐसी दशा में उनके

बाहर से उत्तम दीखने पर भी उनके निज के लिये तथा दूसरों के लिये अन्ततः दुष्परिणाम ही उत्पन्न करेंगे । इसी प्रकार कई बुरे दीखने वाले और पाप प्रतीत होने वाले कार्य भी यदि निस्वार्थ भावना से, लोकमंगल की दृष्टि से किये गये हैं तो वे तत्वतः पुण्य ही कहे जायेंगे । जज का फाँसी का हुक्म सुनाना, जल्लाद का फाँसी देना, बाहर से देखने में हिंसा जैसे हेय प्रतीत होते हैं पर वस्तुतः उनके पीछे समाज व्यवस्था और न्याय रक्षा की दृष्टि होने से वे दोनों ही न केवल निर्दोष हैं वरन् कठोर कर्तव्य साहसपूर्वक करने की दृष्टि से पुण्यात्मा और प्रशंसनीय भी हैं ।

दैनिक जीवन में आजीविका उपार्जन, परिवार पोषण जैसे उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिये जो साधारण काम–काज हमें करने पड़ते हैं, उनमें कर्तव्य धर्म का, लोक–मंगल का दृष्टिकोण समन्वित रहे तो वे ही मामूली दीखने वाले काम–काज पुण्य परमार्थ बन सकते हैं और साधारण जीवन क्रम सहयोग की साधना का आध्यात्मिक प्रयोग सिद्ध हो सकता है । बन्धन, भार और पाप तो वे कार्य बनते हैं, जिनमें स्वार्थ का दृष्टिकोण और अनीति का समन्वय होने पर ही मनुष्य अनीति बर्तने लगता है और तृष्णा, लालसा एवं ममता अहंता की लालसायें ही उसे अनुचित कार्य करने की प्रेरणा देती हैं । यदि अपना दृष्टिकोण साफ हो, जो भी करना है कर्तव्य धर्म पालन करने के लिये, औचित्य की रक्षा के लिये–मानवीय मर्यादाओं के अनुरूप करना है, यह मान्यता रखकर जो कार्य किये जायेंगे वे प्रायः पुण्य ही होंगे । कर्मयोग का दृष्टिकोण अनुचित कुकर्मों की सम्भावना को समाप्त कर देता है । जो पाप नहीं वह पुण्य ही तो होगा । निरन्तर पुण्य करते रहने वाले की आन्तरिक प्रगति अन्ततः देवत्व की ओर ही होगी ।

सामान्य काम–काज में उत्कृष्टता का दृष्टिकोण समाविष्ट रखना यही कर्मयोग है । कर्मयोग की साधना का अभ्यास करने के लिये परिजनों को एक मन्त्र दिया गया है–

"हर दिन नया जन्म–हर रात नई मौत ।"

प्रातःकाल आँख खुलते ही बिस्तर छोड़ने से पूर्व चारपाई पर पड़े–पड़े ही इस मन्त्र को मन ही मन दुहराना चाहिये और भावना करनी

चाहिये कि आज का दिन हमें एक नये जन्म के रूप में मिला है । वस्तुतः निद्रा और जागरण, मृत्यु और जन्म का ही एक छोटा नमूना है । उसमें असत्य भी कुछ नहीं । सचमुच की मृत्यु भी एक लम्बी रात की गहरी नींद मात्र ही है । हर दिन को एक जन्म कहा जाय तो ऊपर से ही हँसी की बात लगती है, वस्तुतः वह एक स्थिर सचाई है । अतएव इस मान्यता में अत्युक्ति अथवा निराधार कल्पना जैसी भी कोई बात नहीं है ।

आज का नया जन्म अपने लिये एक अनमोल अवसर है । कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों के बाद एक बार मनुष्य शरीर मिलता है, उसका सदुपयोग कर लेना ही शास्त्रकारों ने सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता मानी है । अस्तु हमें प्रातःकाल चारपाई पर पड़े-पड़े ही विचारना चाहिये कि आज का दिन अनमोल अवसर है उसे अधिक से अधिक उत्कृष्टता के साथ व्यतीत करना चाहिये । कोई भूल, उपेक्षा, अनीति, दुर्बुद्धि उसमें न रहे । आदर्शवादिता का, सद्भावना और सदाशयता का उसमें अधिकाधिक समावेश रहे, ऐसा दिन भर का कार्यक्रम बनाकर तैयार किया जाय ।

आमतौर से आलस्य, ढोल-पोल, शिथिलता में हमारा अधिक से अधिक समय बर्बाद होता है । तत्परता, स्फूर्ति, परिश्रम और दिलचस्पी के साथ करने पर जो कार्य एक घण्टे में हो सकता है उसी को अधिकतर लोग दो-दो, चार-चार घण्टे में पूरा करते हैं । आलस्य, अधूरामन, मंदगति, रुक-रुककर शिथिलतापूर्वक काम करने और ऐसे-वैसे ज्यों-त्यों बेकार बहुत-सा समय गुजार देने की आदत बहुतों की होती है और उनका आधा जीवन प्रायः इस आलस्य प्रमाद में बर्बाद हो जाता है । यह बुरी आदत संभव है थोड़ी बहुत मात्रा में अपने भीतर भी हो, उसे बारीकी से तलाश करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि आज हर काम पूरी तत्परता और फौजी उत्साह के साथ करेंगे । समय ही जीवन है । वही ईश्वर प्रदत्त हमारी एकमात्र सम्पत्ति है । समय का सदुपयोग करके ही हम अभीष्ट आकांक्षा पूर्ण करने और मंगलमयी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकने में सफल हो सकते हैं । समय की बर्बादी एक प्रकार की मन्द आत्महत्या है । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनमें से प्रत्येक ने अपने समय का एक-एक क्षण ठीक तरह उपयोग करके ही अभीष्ट

सफलतायें प्राप्त की हैं इसलिये आज समय के सदुपयोग की, एक-एक पल भी बर्बाद न होने की, आलस्य शिथिलता एवं अन्यमनस्कता से लड़ने की पूरी तैयारी करनी चाहिये और दिन भर के समय विभाजन की दिनचर्या ऐसी बनानी चाहिये जिसमें वक्त की बर्बादी की तनिक भी गुञ्जायश न रहे । जो आवश्यक काम पिछले कई दिनों से टलते आ रहे हों, जिनकी उपयोगिता अधिक हो, उन सबको सुविधा हो तो आज ही करने के लिये नियत कर लेना चाहिये । दिनचर्या ऐसी बने जो सुविधाजनक भी हो और सुसंतुलित भी । अति उत्साह में ऐसा कार्यक्रम न बना लिया जाय जिसको पूरा कर सकना ही कठिन पड़ जाय ।

शारीरिक कार्यक्रमों के साथ-साथ मानसिक क्रिया पद्धति भी निर्धारित करनी चाहिये । किस कार्य को किस भावना के साथ करना है, इसकी रूपरेखा मस्तिष्क में पहले से ही निश्चित रहनी चाहिये । समय-समय पर बड़े ओछे संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण हेय विचार मन में उठते रहते हैं । सोचना चाहिये कि आज किस अवसर पर किस प्रकार का अनुपयुक्त विचार उठने की सम्भावना है, उस अवसर के लिये विरोधी विचारों के शस्त्र पहले से ही तैयार कर लिये जायें ।

आरम्भ में बुरे विचारों को उठने से रोक सकना कठिन है । हाँ जब वे उठें तो उन्हें, ठीक विरोधी विचारधारा पैदा करके काटा जा सकता है । लोहे से लोहा कटता है । विचारों से विचार भी काटे जा सकते हैं । कामुकता के अश्लील विचार यदि किसी नारी के प्रति उठ रहे हैं तो उसे अपनी बेटी, बहिन, भानजी आदि के रिश्ते में सोचने की, सफेद चमड़ी के भीतर मल-मूत्र, रक्त-मांस की घृणित दुर्गंध भरी होने की कल्पना करके उनका शमन किया जा सकता है । आवेश, उत्तेजना, क्रोध, उतावली की बुरी आदतें कइयों की होती हैं, जब वैसे अवसर आयें तब गम्भीरता, धैर्य, दूरदर्शिता, सज्जनता, शान्ति जैसे विचार अपने में उस समय तत्काल उठाने की तैयारी करनी चाहिये ।

प्रातःकाल चारपाई पर पड़े-पड़े दिन भर के समय विभाजन तथा विचार संघर्ष की योजना बनानी चाहिये और ऐसी दिनचर्या तैयार करनी चाहिये जिसमें शरीर से ठीक तरह कर्तव्य पालन और मन में ठीक तरह

सद्भाव चिन्तन होता रहे । इस कार्य के लिये पन्द्रह मिनट से लेकर आधा घण्टे का समय पर्याप्त होना चाहिये । इतने में खुमारी भी दूर हो जाती है और बिस्तर छोड़ने के लिये आवश्यक स्फूर्ति भी आ जाती है । उस निर्धारित दिनचर्या को कागज पर नोट कर लेना चाहिये और सयम–समय पर जाँचते रहना चाहिये कि निर्धारण के अनुरूप कार्यक्रम चल रहा है या नहीं । जहाँ भी चूक होती हो वहीं उसे तुरन्त सुधारना चाहिये । यदि सतर्कता पूर्वक दिनचर्या के पालन का ध्यान रखा जाय, शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद से पग–पग पर लड़ते रहा जाय तो प्रातःकाल की निर्धारित योजना रात को सोते समय तक ठीक ही चलती रहेगी ।

इस प्रकार हर दिन नया जन्म वाले मन्त्र का आधा भाग रात को सोते समय तक पूरा होता रहना चाहिये । हर घड़ी अपने को सतर्क, सक्रिय, जागरूक रखा जाय, उत्कृष्टता का जीवन में अधिकाधिक समावेश करने के लिये प्रयत्न किया जाय तो निस्संदेह वह दिन पिछले अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद, अधिक गौरवास्पद होगा । इस प्रकार हर दिन पिछले दिन की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक आदर्श बनता चला जायेगा और कर्मयोग के तत्वदर्शन में हमारी जीवन पद्धति ढलती चली जायगी ।

अब मन्त्र का आधा भाग प्रयुक्त करने का अवसर आता है–"हर रात नई मौत" इस भावना को रात्रि में सोते समय प्रयुक्त करना चाहिये । सब कामों से निवृत्त होकर जब निद्रा देवी की गोद में जाने की घड़ी आये, तब कल्पना करनी चाहिये कि "एक सुन्दर नाटक का पटाक्षेप हो चला । यह संसार एक नाट्यशाला है । आज का दिन अपने को अभिनय करने के लिये मिला था, सो उसको अच्छी तरह खेलने का ईमानदारी से प्रयत्न किया । जो भूलें रह गयीं उन्हें याद रखेंगे और अगले दिन वैसी पुनरावृत्ति न होने देने की अधिक सावधानी बरतेंगे ।"

"अनेक वस्तुयें इस अभिनय में प्रयोग करने को मिलीं अनेक साथियों का साथ रहा । उनका सान्निध्य एवं उपयोग जितना आवश्यक था कर लिया गया, अब यथासमय छोड़कर पूर्ण शान्ति के साथ अपनी आश्रय

दात्री माता निद्रा—मृत्यु—की गोद में निश्चिन्त होकर शयन करते हैं ।"

इस भावना में वैराग्य का अभ्यास है । अनासक्ति का प्रयोग है । उपलब्ध वस्तुओं में से एक भी अपनी नहीं, साथी व्यक्तियों में से एक भी अपना नहीं । वे सब अपने परमेश्वर के और अपने कर्तृत्व की उपज हैं । हमारा न किसी पर अधिकार है न स्वामित्व । हर पदार्थ और हर प्राणी के साथ कर्तव्य बुद्धि से ठीक प्रकार व्यवहार कर लिया जाय, यही अपने लिये उचित है । इससे अधिक मोह—ममता के बन्धन बाँधना, स्वामित्व और अधिकार की अहंता जोड़ना निरर्थक है । अपना तो यह शरीर भी नहीं, कल—परसों इसे धूलि बनकर उड़ जाना है । तब जो सम्पदा, प्रयोग सामग्री, पद, परिस्थिति, उपलब्ध है उस पर अपना स्वामित्व जमाने का क्या हक ? अनेक प्राणी सृष्टि के आदि से लेकर अब तक अपने कर्म भोगों को भुगतते अनेकों के साथ आये दिन संयोग—वियोग करते रहते हैं । अपने साथ भी आज कितने ही प्राणी एक सज्जन साथी की तरह रह रहे हैं, इनके लिये कर्तव्य धर्म का ठीक तरह पालन किया जाय इतना ही पर्याप्त है । उनसे अनावश्यक ममता जोड़कर ऐसा कुछ न किया जाय जिससे अनुचित पाप कर्मों में संलग्न होना पड़े ।

यह विवेक हमें रात को सोते समय जागृत करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि अहंता और ममता के बन्धन तोड़कर एकात्म भाव से भगवान् की मंगलमय गोदी, निद्रा—मृत्यु में परम शान्ति और सन्तोषपूर्वक निमग्न हुआ जा रहा है ।

इस प्रकार की मनोभूमि का विकास होने से जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रगति होने की संभावना रहती है । इस प्रकार की भावना बनी रहने से मनुष्य माया—मोह के हानिकारक बन्धनों से अधिकांश में विमुक्त रहता है और आत्मोद्धार का वास्तविक लक्ष्य उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होने पाता । इस प्रकार जो साधक जीवन के वास्तविक लक्ष्य को हस्तगत कर लेता है उसको फिर व्यर्थ के जंजाल में नहीं फँसना पड़ता ।

किसी दिन सचमुच ही मृत्यु आ जाय तो इन परिपक्व वैराग्य भावनाओं के आधार पर बिना भय और उद्वेग के शान्तिपूर्वक विदा होते हुए मरणोत्तर जीवन में परम शान्ति का अधिकारी बना जा सकता है ।

यह भावना लोभ और मोह की जड़ काटती है । कुकर्म प्रायः इन्हीं दो आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण बन पड़ते हैं । हर रात्रि को एक मृत्यु मानने से लोभ और मोह का निराकरण और हर दिन को नया जन्म मानने से जीवन में आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का समावेश करने की प्रेरणा मिलती है । यही प्रेरणा कर्म योग की आधार शिला है ।

हममें से प्रत्येक को "हर दिन नया जन्म-हर रात नई मौत" के भाव-मन्त्र की साधना करनी चाहिये । इससे स्थूल शरीर में कर्म योग का समावेश इस क्षेत्र में होगा और देवत्व के जागरण की एक महती आवश्यकता पूरी करने का सरल मार्ग उपलब्ध होगा । ○

सूक्ष्म शरीर का उत्कर्ष-ज्ञान योग से

सूक्ष्म शरीर विचार प्रधान है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय इस आवरण का आधार है । विविध कामनायें, वासनायें, आकांक्षायें, लालसायें इसी में उठती हैं । अभिरुचि और प्रकृति का केन्द्र यही है । शरीर विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क में यह संवेदनायें समाविष्ट हैं, अतएव मस्तिष्क को सूक्ष्म शरीर का निवास स्थल माना-गया है । यों यह चेतना समस्त शरीर में भी व्याप्त है । मस्तिष्क के दो भाग हैं-एक सचेतन, दूसरा अचेतन । माथे वाले अग्रभाग में सोचने, विचारने, समझने, बूझने, निर्णय और प्रयत्न करने वाला सचेतन मन रहता है और मेरुदण्ड से मिले हुए पिछले भाग में अचेतन मस्तिष्क का स्थान है । यह अनेकों आदतें, संस्कार, मान्यतायें, अभिमान, प्रवृत्तियाँ मजबूती से अपने अन्दर धारण किये रहता है । शरीर के अविज्ञात क्रिया कलापों का संचालन यहीं से होता है ।

गुण विभाजन के अनुसार स्थूल शरीर तमोगुण (पंच तत्वों) से, सूक्ष्म शरीर रजोगुण (विचारणा) से और कारण शरीर सतोगुण (भावना) से विनिर्मित है । स्थूल शरीर को प्रवृत्ति प्रधान, सूक्ष्म शरीर को जीव प्रधान और कारण शरीर को आत्मा (परमात्मा) प्रधान माना गया है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, आनन्दमय, विज्ञानमय कोष भी इन तीन शरीरों

के अन्तर्गत ही हैं, जिनका वर्णन गायत्री महाविज्ञान (तृतीय खण्ड) में किया जा चुका है ।

इन शरीरों के विस्तृत वर्णन का अवसर यहाँ नहीं । अभी तो इतना जानना ही पर्याप्त है कि सूक्ष्म शरीर में देवत्व का अभिवर्धन करने के लिये ज्ञानयोग की आवश्यकता होती है । ज्ञानयोग का अर्थ उन जानकारियों को हृदयंगम करना है जो हमारे आदर्श, सिद्धान्त, मनोयोग और क्रियाकलापों का निर्माण एवं संचालन करती हैं ।

स्थूल ज्ञान वह है, जो सांसारिक जानकारियाँ बढ़ा कर हमारे मस्तिष्क को अधिक उर्वर, सक्षम एवं समर्थ बनाता है । यश, धन, व्यक्तित्व, शिल्प, कौशल आदि इसी आधार पर उपार्जित किये जाते हैं । इसी को शिक्षा कहते हैं । विविध विषयों की अगणित शिक्षा संस्थायें इसी प्रशिक्षण के लिये खुली हुई हैं, जिनमें पढ़कर छात्र अपनी रुचि एवं आवश्यकतानुसार जानकारी अर्जित करते हैं । पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, परस्पर संभाषण, भ्रमण आदि साधनों से भी मस्तिष्क को समुन्नत करने वाली जानकारी मिलती है । यह सब शिक्षा के ही भेद हैं ।

शिक्षा सांसारिक जानकारी देती है, उसकी पहुँच मस्तिष्क तक है । विद्या अन्तःकरण तक पहुँचती है और उसके द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण, निर्धारण होता है । विद्या को ही ज्ञान कहते हैं । ज्ञान का आधार अध्यात्म है । केवल शब्दों के श्रवण मनन से शिक्षा पूरी हो सकती है, पर विद्या का उद्देश्य तभी पूरा होगा जब उसकी पहुँच अन्तरात्मा तक हो, उसका आधार अध्यात्म, तत्व–ज्ञान रहे और उसका प्रशिक्षण ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया हो जो अपना आदर्श उपस्थित कर उन भावनाओं को हृदयंगम करा सकने में समर्थ हो । यह आधार प्राप्त न हो तो विद्या एक तरह की भौतिक शिक्षा मात्र ही बन कर रह जाती है और उससे अभीष्ट प्रयोजन पूर्ण नहीं होता । आजकल आध्यात्म के नाम पर, ज्ञान योग के नाम पर वाचालता बहुत बढ़ गयी है । कथा–प्रवचनों के अम्बार खड़े होते हैं पर सुनने वालों का कौतूहल समाधान होने के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं होता । उनके अन्दर प्रभाव, प्रकाश एवं परिवर्तन तनिक भी दिखाई नहीं

देता । इसका कारण यही है कि विद्या को भी शब्द शक्ति तक ही सीमित किया जा रहा है जबकि उसका प्रवेश और प्रकाश सीधा आत्मा तक पहुँचना चाहिये ।

ज्ञान–योग का उद्देश्य आत्मा तक सद्ज्ञान का, तत्वज्ञान का प्रकाश पहुँचाना है । इसका शुभारम्भ आत्म–ज्ञान से होता है । लोग सांसारिक जानकारियों के बारे में बहुत चतुर, निपुण और निष्णात होते हैं, अपनी इस प्रतिभा के बल पर धन, यश, सुख और पद प्राप्त करते हैं । किन्तु खेद है कि अपने अस्तित्व, स्वरूप उद्देश्य और कर्तव्य के बारे में तात्विक दृष्टि से अनजान ही बने रहते हैं । यों इन विषयों पर भी वे एक लम्बी स्पीच झाड़ सकते हैं, पर यह केवल उनका मस्तिष्कीय चमत्कार भर होता है, यदि आत्मज्ञान का थोड़ा भी तात्विक प्रकाश मनुष्य के अन्तःकरण में पहुँच जाय तो उसकी जीवन दिशा में उत्कृष्टता का समावेश हुए बिना नहीं रह सकता । उसकी विचारणा, निष्ठा तथा गतिविधि सामान्य लोगों जैसी नहीं–असामान्य पाई जायगी । सच्चा आत्म–ज्ञान केवल जानकारी भर बन कर नहीं रह सकता । उसकी पहुँच अन्तःकरण के गहन स्तर तक होती है और उस स्थान तक पहुँचा हुआ प्रकाश जीवन क्रम में प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता ।

अध्यात्मवाद का प्रथम प्रशिक्षण आत्म–ज्ञान की उपलब्धि के साथ ही दिया जाता है । उपनिषद्कार ने पुकार–पुकार कर कहा है–

"आत्मा व अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो ।"

"अपने को सुनो, अपने बारे में जानो, अपने को देखो और अपने बारे में बार–बार मनन चिन्तन करो ।" वस्तुतः हम अपने को शरीर मानकर जीवन की उन गतिविधियों का निर्धारण करते हैं जिनसे केवल शरीर का ही यत्किंचित स्वार्थ सिद्ध होता है । आत्मा के हित और कल्पना के लिये हमारे जीवन क्रम में प्रायः नहीं के बराबर स्थान रहता है । यदि हम अपने को आत्मा और शरीर को उसका एक वाहन, औजार मात्र समझें तो सारा दृष्टिकोण ही बदल जाय । समस्त गतिविधियाँ उलट जायें तब हम आत्मा के हित, लाभ और कल्याण को ध्यान में रख कर अपनी रीति–नीति निर्धारित करें । ऐसी दिशा में हमारा स्वरूप न

नर–पशु जैसा रह सकता है और न नर–पिशाच जैसा । तब हम विशुद्ध नर–नारायण के रूप में परिलक्षित होंगे, देवत्व हमारे रोम–रोम से फूटा पड़ रहा होगा ।

जन्म–दिन मनाने की प्रक्रिया के साथ युग निर्माण योजना के अन्तर्गत आत्म–ज्ञान का व्यापक उद्बोधन, व्यापक अभियान चलाया जा रहा है । प्रत्येक परिजन को बहुत जोर देकर कहा जा रहा है कि वह अपना जन्मदिन समारोह पूर्वक मनाया करे । उस दिन अपने में भावनात्मक उल्लास उत्पन्न किया करे । जीवन के स्वरूप, उद्देश्य एवं उपयोग के महान् तत्वज्ञान पर एकान्त में विचार किया करे और अपने आपसे यह प्रश्न पूछा करे कि अपने अस्तित्व का मूल स्वरूप क्या है ? इस सुर दुर्लभ मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? और इन बहुमूल्य क्षणों का सर्वोत्तम सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का यदि सही उत्तर भीतर से मिले और इतना साहस उत्पन्न हो जाय कि जो श्रेयष्कर है उसी को अपना लिया जाय तो हमारे जीवन में एक आध्यात्मिक क्रान्ति उपस्थित हो सकती है । हम सामान्य से असामान्य, नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, तुच्छ से महान और आत्मा से बढ़कर परमात्मा बन सकते हैं ।

जन्म दिन के अवसर पर वर्षों के हिसाब से घृत–दीप जलाना, पंच तत्व पूजन, महा मृत्युञ्जय मंत्र का सामूहिक पाठ, गायत्री यज्ञ, पुष्पोपहार, अभिवन्दन, आशीर्वाद जैसे धर्म कृत्य एक भावनात्मक उल्लासपूर्ण वातावरण विनिर्मित करते हैं । मित्रों, परिजनों का सम्मिलित सस्ता पेय जल पान, उस हँसी–खुशी को और बढ़ा देता है । उपस्थित लोगों में भी इस तरह का आयोजन करने और जन्म दिन मनाने की इच्छा उत्पन्न होती है और इस पुण्य परम्परा के प्रसारण की सम्भावना बढ़ती है । मनुष्य का निज का जन्म–दिन उसके लिये निजी दृष्टि से सबसे बड़ा त्यौहार होता है । कृष्ण जी की जन्माष्टमी, राम जी की राम नवमी अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है, पर एक सामान्य व्यक्ति के जीवन में उसका जन्मदिन भी कम महत्व का नहीं । अपनापन हर किसी को पसन्द है । अपनी शक्ल शीशे या फोटो में देखकर, अपना नाम कहीं छपा देखकर अपनी चर्चा कहीं

सुन कर हर किसी को गर्व–गौरव सन्तोष–आनन्द का अनुभव होता है। आन्तरिक उल्लास का अभिवर्धन एक आध्यात्मिक साधन है। इस प्रकार हर दृष्टि से जन्मदिन आयोजनों का मनाया जाना श्रेयस्कर ही है। इस प्रथा परम्परा को जितने अधिक उत्साह के साथ प्रचलित किया जायगा उतना ही राष्ट्र के आध्यात्मिक उत्कर्ष का उद्‌देश्य पूरा होगा। यों संसार के सभ्य समाज में सर्वत्र जन्मदिन का उत्सव मनाने का रिवाज है। इसे अच्छा भी माना जाता है, पर अपना उद्‌देश्य तो इससे ऊँचा है। सामाजिक, पारिवारिक एवं मनोवैज्ञानिक उत्सव मात्र ही इसे नहीं रहने देना है वरन् इस महान् परम्परा को आध्यात्मिक जागरण का आधार भी बनाना है, जिससे युग निर्माण का, देवत्व के परिपोषण का महान् प्रयोजन पूर्ण हो सके।

जन्म–दिन के अवसर पर अपने आपसे तीन प्रश्न पूछने चाहिये–

(१) भगवान् को सभी प्राणी समान रूप से प्रिय पात्र हैं। फिर मनुष्य को ही बोलने, सोचने, लिखने एवं असंख्य सुख–सुविधायें प्राप्त करने का विशेष अनुदान क्यों मिला? मनुष्य को हर दृष्टि से उत्कृष्ट स्तर का प्राणी बनाने में इतना असाधारण श्रम क्यों किया?

उत्तर एक ही हो सकता है–"अपने उद्यान इस संसार को अधिक सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाने के लिये परमेश्वर को साथी सहचरों की जरूरत पड़ी और अपनी क्षमताओं से सुसज्जित एक सर्वांगिण प्राणी–मनुष्य इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये बनाया। विशेष साधन सुविधायें इसीलिये दीं कि उनके द्वारा वह ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति ठीक तरह कर सके।"

(२) दूसरा प्रश्न अपने आपसे पूछना चाहिये–जो सुविधायें, विभूतियाँ सम्पदायें हमें उपलब्ध हैं–"उनका लाभ यदि हम अकेले ही उठाते हैं तो इसमें क्या कोई हर्ज है?"

उत्तर एक ही मिलेगा–"अन्य प्राणियों के अतिरिक्त जितनी भी बौद्धिक, आर्थिक, प्रतिभा कारक एवं अन्य किसी प्रकार की विशेषतायें हैं, वे विश्व मानव की ही पवित्र अमानत हैं और इनका उपयोग लोक–मंगल के लिये ही किया जाना चाहिये। शरीर रक्षा भर के आवश्यक उपकरणों

के अतिरिक्त इन साधनों का विश्व कल्याण के लिये ही उपयोग किया जाय।"

(३) तीसरा प्रश्न अपने आप से करना चाहिये कि-"क्या इस सुरदुर्लभ मानव शरीर का सही सदुपयोग हो रहा है ?"

उत्तर यही मिलेगा-"हम सदाचारी, संयमी, परिश्रमी, उदार, सज्जन, हँसमुख, सेवा भावी बने बिना मानव जीवन को सार्थक नहीं बना सकते। इसलिये इन सद्‌गुणों का अभ्यास बढ़ाने के लिये जीवनयापन की रीति-नीति में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का, सभ्यता और सज्जनता का, पुरुषार्थ और साहस का समुचित समावेश करना चाहिये।

इन्हीं प्रश्नोत्तरों में अध्यात्म तत्वज्ञान का सार सन्निहित है। यदि यह प्रश्न जीवन की महान् समस्या के रूप में सामने आये और उन्हें सुलझाने के लिये हम अपने पूरे विवेक का उपयोग करें तो भावी जीवनयापन का एक व्यवस्थित दर्शन और कार्यक्रम सामने आ खड़ा होगा। यदि साहसी शूरवीरों की तरह इस ईश्वरीय सन्देश को चुनौती के रूप में स्वीकार किया जा सका तो दूसरे ही दिन आकांक्षाओं और कामनाओं का स्वरूप बदला हुआ होगा। रीति-नीति और कार्य पद्धति में वैसा परिवर्तन परिलक्षित होगा जैसे आत्म-ज्ञान सम्पन्न मनुष्य को प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होना चाहिये।

जन्म दिन मनाने और उससे प्रेरणा ग्रहण करने की साधना विधि अपनाने के लिये परिजनों से इसीलिये अनुरोध किया जाता है कि वे अपने सूक्ष्म शरीर में, मानसिक चेतना में ज्ञानयोग का समावेश कर देवत्व का जागरण करने की दिशा में आशाजनक प्रगति कर सकें। ⊙

ज्ञान-योग से जन-मानस का परिष्कार

ज्ञान-योग द्वारा सूक्ष्म शरीर में देवत्व की दैनिक प्रक्रिया है-स्वाध्याय। जन्म-दिन वर्ष में एक बार आता है, झकझोर कर चला जाता है। उसे आत्म-ज्ञान का शुभारम्भ, श्रीगणेश एवं प्रेरक पर्व कह सकते हैं, इस उपलब्धि को नित्य सींचना आवश्यक है और यह कार्य दैनिक स्वाध्याय से ही सम्भव हो सकता है।

वातावरण का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है । आज के वातावरण में स्वार्थपरता, वासना, विलासिता, तृष्णा, उच्छृंखलता की मनोवृत्तियाँ बुरी तरह संव्याप्त हैं । इन्हीं से प्रेरित होकर लोगों की विभिन्न गतिविधियाँ संचालित होती हैं । लोग बाहर से आदर्शवादिता की बातें करते हैं, पर उनके क्रियाकलाप में उपरोक्त तत्व ही घुले रहते हैं । बेईमानी और धूर्तता का सहारा लेकर सांसारिक वैभव उपार्जन करने वाले लोगों के उदाहरण चारों ओर भरे पड़े हैं । यह सारे का सारा वातावरण मौन रूप से मनुष्य को यही उपदेश करता है कि शीघ्र उन्नति करनी है, मौज-मजा के अधिक साधन उपलब्ध करने हों तो उचित-अनुचित का अन्तर करने के झंझट में न पड़कर जैसे बने वैसे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहिये । आज के वातावरण की मौन रूप से यही शिक्षा है और यह शिक्षा हर दुर्बल मनःस्थिति के व्यक्ति को प्रभावित भी करती है । फलस्वरूप जनसाधारण की रुचि अकर्म और कुकर्म करने की ओर बढ़ती चली जाती है । असुरता को दिन-दिन बढ़ते और देवत्व को दिन-दिन क्षीण होते हम भली प्रकार देख सकते हैं ।

आम लोग इस पतन प्रवाह में ही बहने लगते हैं । सामाजिक मूढ़तायें, रुढ़ियाँ, अन्ध परम्परायें अधिकांश लोगों को अपने चंगुल में जकड़े रहती हैं । उनकी देखा-देखी दुर्बल मन व्यक्ति भी अनुकरण करते हैं । विवेक उनकी उपयोगिता पर सन्देह तो उत्पन्न करता है पर समर्थन न मिलने से चुप ही बैठना पड़ता है और जो ढर्रा चल रहा है उसी के प्रवाह में लुढ़कना पड़ता है । इस प्रकार अवांछनीय सामाजिक कुरीतियाँ, मूढ़तायें और अन्ध-परम्परायें घटने के बजाय बढ़ती ही रहती हैं । अनैतिकता का अभिवर्धन व्यक्तिगत चरित्र को और सामाजिक मूढ़ताओं का विस्तार सामूहिक जीवन को जर्जर बनाते चले जा रहे हैं । पतन का पहिया तेजी से घूमता है और दुर्दशा की दिशा में हम भयावह रूप से बढ़ते चले जा रहे हैं ।

इस कुचक्र को कैसे रोका जाय ? इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि सर्वसाधारण के मस्तिष्क को पतन की ओर आकर्षित करने वाले प्रशिक्षण की तुलना में

ठीक उतना ही प्रबल प्रतिरोधी वातावरण ऐसा तैयार किया जाय जो जनमानस में, असुरता की विभीषिकाओं और देवत्व की शुभ सम्भावनाओं का प्रभाव उत्पन्न कर सके । अच्छा तो यह था कि जिस प्रकार दुष्टता अपनाकर सफलता उपलब्ध करने वालों के अगणित उदाहरण सामने उपस्थित हैं वैसे ही सज्जनता का अवलम्बन लेकर प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचने वालों के उदाहरण देखने को मिलते और उनका प्रभाव ग्रहण कर अनेकों को उस सन्मार्ग का अनुकरण करने की प्रेरणा मिलती । पर यदि वैसी व्यवस्था तत्काल नहीं हो सकती तो दूसरा उपाय यह है कि जन साधारण के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकने योग्य उत्कृष्ट समर्थ विचार इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हों कि सामयिक कुशिक्षा और दूषित प्रभाव का निराकरण किया जा सके ।

यह कार्य स्वाध्याय की व्यापक सर्वांगपूर्ण व्यवस्था करके समम्पन्न किया जा सकता है । वर्तमान का काम इतिहास से चलाया जा सकता है और कुशिक्षा देने वाले वर्तमान व्यक्तियों के मुकाबिले दूरस्थ अथवा दिवंगत महापुरुषों की विचार पद्धति सामने खड़ी की जा सकती है । स्वाध्याय इसी प्रक्रिया का नाम है । संसार में ऐसे उत्कृष्ट व्यक्तित्व हैं अथवा हो चुके हैं जिनकी ओजस्वी विचारधारा बड़ी समर्थ और सारगर्भित है, उसे सुनने का अवसर मिलता रहे तो वर्तमान दुर्बुद्धिपूर्ण शिक्षा की काट हो सकती है । इसी प्रकार दूरस्थ अथवा दिवंगत सन्मार्गगामी सज्जनों के महान् चरित्र आँखों के सामने प्रस्तुत होते रहें तो भी वर्तमान दुरात्माओं के भ्रष्ट अनुकरण से बचने की हिम्मत जाग सकती है । प्रत्यक्ष न सही, परोक्ष रूप से मस्तिष्कों के सम्मुख प्रेरक प्रशिक्षण एवं घटनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा सके तो भी पतन के प्रवाह को रोकने में बहुत सहायता मिल सकती है । स्वाध्याय इसी महती आवश्यकता को पूर्ण करता है । स्वाध्याय ज्ञान योग का अविच्छिन्न अंग है ।

'सत्यं वद, धर्मं चर' के बाद शास्त्र का मानव प्राणी के लिये महत्वपूर्ण निर्देश 'स्वाध्यायन्मः प्रमदः' ही है । स्वाध्याय में प्रमाद करने की कठोरता पूर्वक मनाही की गयी है । भोजन, शयन, स्नान जैसे नित्य कर्मों में ही स्वाध्याय की भी गणना है । जिस प्रकार आहार के बिना

क्षुधा की निवृत्ति नहीं हो सकती । जिस मनोभूमि को स्वाध्याय नहीं मिलता वह ऊसर, नीरस, दुर्बल और विकृत होती चली जाती है । बर्तनों को नित्य माँजना पड़ता है, दाँत रोज साफ करने पड़ते हैं, स्नान नित्य किया जाता है, कमरे में झाड़ू रोज लगती है, इसी प्रकार मन पर वातावरण से निरन्तर पड़ने वाले बुरे प्रभाव का, मलीनता का निराकरण करने के लिये नित्य ही स्वाध्याय की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा मनोभूमि मलीनता से इतनी आच्छादित हो जाती है कि उसमें सड़न और दुर्गन्ध के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता । ऐसा मन असुरता का ही निवास-स्थल हो सकता है ।

पिछले दिनों कोई-कोई पौराणिक कथा ग्रन्थ थोड़ा-थोड़ा कर बाँच लेना अथवा किसी प्राचीन धार्मिक पुस्तक के थोड़े से पन्ने उलट लेना स्वाध्याय की लकीर पीटने के लिये काफी माना जाता रहा है । यह सर्वथा अपर्याप्त है । जीवन की, परिवार की, समाज की बाह्य तथा अन्तरंग समस्याओं पर जो साहित्य वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ का ध्यान रख कर व्यावहारिक एवं बुद्धि संगत हल उपस्थित कर सके वही स्वाध्याय का उपयुक्त माध्यम माना जा सकता है । उसी से किसी मार्ग दर्शन की, समस्याओं के समाधान की आशा की जा सकती है ।

खेद की बात है कि इस प्रकार का स्वाध्यायोपयोगी साहित्य ढूँढे नहीं मिलता । बुकसेलरों और प्रकाशकों के गोदामों में केवल कूड़ा कचरा ही भरा दिखाई पड़ता है और मानव जाति का, देश-धर्म और समाज-संस्कृति का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि व्यक्ति तथा समाज का नवनिर्माण कर सकने की क्षमता सम्पन्न साहित्य का आज खटकने वाला अभाव दृष्टिगोचर होता है । इस अभाव की पूर्ति के लिये 'युग निर्माण योजना' के अन्तर्गत ऐसा सर्व-सुलभ साहित्य छोटे ट्रैक्टों के रूप में छापा गया है जो जन-मानस की विकृतियों का समाधान कर उसे आवश्यक प्रकाश एवं मार्ग-दर्शन प्रस्तुत कर सके । जीवन के हर पहलू और समाज की हर समस्या पर इस प्रकाशन के अन्तर्गत एक क्रमबद्ध प्रेरणा प्रस्तुत की जा रही है । इस एक बड़े अभाव की पूर्ति एक सीमा तक इस माध्यम से पूरी हो सकेगी ऐसी आशा करना उचित ही माना जा सकता है ।

प्रिय परिजनों को ज्ञान–योग की साधना के लिये स्वाध्याय की अनिवार्य आवश्यकता को समझने के लिये आग्रह किया गया है । देवत्व के अभिवर्धन का, सूक्ष्म शरीर के परिष्करण का यह एक असाधारण उपाय है । हमें नित्य ही अनिवार्य रूप से इस 'युग निर्माण साहित्य' का अध्ययन करना चाहिये । कुछ समय इसके लिये पूजा, उपासना, आहार, स्नान आदि की तरह ही निर्धारित कर लेना चाहिये और कितने ही आवश्यक कार्यों की उपेक्षा कर इस आत्मिक आहार के लिये समय निकालना चाहिये । यह प्रेरक विचारधारा जिन अन्तःकरणों से निकलती है वह इतने समर्थ हैं कि पाठक में अपनी ज्योति एवं प्रेरणा उत्पन्न कर सकें । यों सद्‌गुणों का महत्व कई अन्य पुस्तकों एवं व्यक्तियों द्वारा समय–समय पर सुना समझा गया होगा, पर यह साहित्य उन सबसे भिन्न अपने ढंग का अनोखा है । वह पाठक के मस्तिष्क तक सीमित न रहकर अन्तःकरण के गहन स्तरों तक प्रवेश करने और वही हलचल उत्पन्न कर सकने की सामर्थ्य से सम्पन्न है । इसका नियमित अध्ययन किसी भी व्यक्ति को देवत्व की सत्य पर चलने की प्रबल प्रेरणा दिये बिना नहीं रह सकता । इसका वाचन निरर्थक नहीं जा सकता, उससे किसी भी व्यक्तित्व के उत्कर्ष में आशाजनक सहायता मिल सकती है ।

हम में से प्रत्येक को ईश्वर की भावनात्मक उपासना करने के लिये स्वाध्याय को एक आवश्यक धर्म कर्तव्य बना लेना चाहिये । ईश्वर की प्राथमिक पूजा, मूर्ति, चित्र आदि के ध्यान और अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, धूप, दीप आदि उपकरणों के साथ होती है, पर आगे चलकर माध्यमिक उपासना उच्च विचारधारा रूपी प्रतिमा को मन मन्दिर में स्थापित करके ही अग्रगामी बनाई जाती है । संयम, साहस, विवेक, सेवा, दया, करुणा, मैत्री, उदारता, सौजन्य, पवित्रता आदि सद्‌गुण विशुद्ध रूप से ईश्वर की भावनात्मक प्रतिमा ही है । स्वाध्याय, सत्संग और चिंतन मनन द्वारा जितनी देर मन मन्दिर में इन सद्‌गुणों का प्रकाश बना रहे और उनमें अपनी श्रद्धा जमी रहे तो समझना चाहिये कि उतनी देर उच्चस्तरीय ईश्वर पूजन होता रहा । प्रतिमायें ईश्वर की प्रतीक हैं पर उच्च भावनायें तो प्रभु की प्रतिनिधि ही मानी गयी हैं । इसलिये स्वाध्याय हमारी

उपासनात्मक आवश्यकता को पूर्ण करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है ।

जो हमें आज की स्थिति के अनुरूप उच्चस्तरीय मार्ग दर्शन एवं परामर्श दे सकें, ऐसे मनीषी महापुरुषों का सत्संग सान्निध्य हर घड़ी, चाहे जहाँ उपलब्ध नहीं हो सकता, पर सद्ग्रन्थों के माध्यम से हम जिस भी महापुरुष को, जिस भी समय जिस भी विषय पर परामर्श देने के लिये बुलाना चाहें वह बिना किसी कठिनाई के सामने उपस्थित होगा । इतना सरल और दूसरा कोई साधन नहीं हो सकता जितना कि स्वाध्याय । अस्तु हमें मानसिक परिष्कार के इस अमोघ माध्यम को अपने दैनिक जीवन में दृढ़ता स्थिरता और श्रद्धापूर्वक स्थान देना चाहिये । स्वाध्याय में प्रमाद न करने की शास्त्राज्ञा को एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति की तरह हमें निश्चित रूप से शिरोधार्य ही करना चाहिये ।

जो शुभ है, श्रेयस्कर है, मंगलमय है, उसे स्वयं तो ग्रहण करना ही चाहिये, अपने परिवार को भी उसका पूरा-पूरा लाभ देना चाहिये । हमारी भौतिक उपलब्धियों का लाभ परिवार के लोगों को मिलता है, उन्हें इस भावनात्मक प्रकाश का लाभ उठाने के लिये भी अवसर देना चाहिये । घर में जितने भी शिक्षित व्यक्ति हैं उन सबको उनके स्तर का स्वाध्याय साधन उपलब्ध करना चाहिये और यदि उनमें अध्ययन की रुचि न हो तो प्रयत्नपूर्वक उसे जागृत करना चाहिये । इस रुचि का न होना मानव जीवन के विकास में एक भारी विघ्न है । इस गतिरोध को हटाने-मिटाने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये और तभी चैन लेना चाहिये जब अपने प्रिय परिवार के हर शिक्षित सदस्य में स्वाध्याय की अभिरुचि उत्पन्न हो जाय और वह श्रेयस्कर साहित्य उपलब्ध करने के लिये, उसकी तलाश के लिये स्वयं उत्सुक रहने लगे । इस मानसिक स्थिति तक अपने परिवार के सदस्यों को पहुँचा देना हर विवेकवान गृहपति का एक परम पवित्र धर्म कर्तव्य है । घर में पढ़े न हों उन्हें जीवन साहित्य सुनने का शौक लगाया जाय । पढ़े सदस्य यह सेवा स्वीकार करें और बिना पढ़ों को नित्य प्रेरक विचारधारा का कुछ न कुछ लाभ एवं प्रकाश उपलब्ध कराया करें । जिन घरों में यह परम्परा चलने लगे, समझना चाहिये, देवत्व की दिशा में अग्रसर होने के लिये इस परिवार ने एक महत्वपूर्ण अवलम्बन ग्रहण कर लिया ।

समाज की महती सेवा के लिये परिजनों को—'झोला पुस्तकालय' चलाने के लिये अनुरोध किया गया है। इस युग का यह सबसे बड़ा परमार्थ है। विचारों में उत्कृष्टता उत्पन्न करना मानव प्राणी की सबसे बड़ी सेवा है। उसी माध्यम से वह अपने बाह्य जीवन का, अन्तरंग जीवन का, परिवार का तथा समस्त समाज का हित साधन कर सकता है। बुरे विचार ही मनुष्य को नरक की आग में जलाते हैं और सद्विचारों के सहारे स्वर्गीय देव-जीवन जी सकना सम्भव होता है। अतएव सद्विचारों का दान, ब्रह्म दान सदा से इस धरती का श्रेष्ठतम पुण्य माना जाता रहा है। साधु, ब्राह्मण इसी परमार्थ के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग करते हैं। शोक संतप्त और पाप-ताप से संत्रस्त मानव जाति को वर्तमान दुर्दशा से विमुक्त करने के लिये सद्ज्ञान की संजीवनी बूटी ही एक मात्र उपाय है। इस आवश्यकता की पूर्ति का उत्तरदायित्व हममें से हर प्रबुद्ध व्यक्ति को वहन करना चाहिये।

एक छोटे झोले में बीस-तीस 'युग निर्माण ट्रेक्ट' लेकर ही हम घर से निकलें। दफ्तर में, दुकान में जहाँ भी कार्यक्षेत्र हो इस झोले को साथ रखें। जो भी विचारशील व्यक्ति दिन भर सम्पर्क में आवें, उनकी रुचि और आवश्यकता को समझकर, समाधान करके किसी ट्रेक्ट की चर्चा करनी चाहिये और बताना चाहिये कि उसे पढ़ने पर एक नया प्रकाश प्राप्त किया जा सकेगा। पहले दिन केवल पुस्तक का महत्त्व बताकर उसकी रुचि जागृत की जाय और यदि उत्सुकता उत्पन्न हो जाय तो दूसरे दिन शीघ्र पढ़कर वापिस करने का अनुरोध करते हुए वह पुस्तक देनी चाहिये। पढ़ लेने पर वापिस माँगनी चाहिये और उसमें प्रस्तुत विषयों पर अनुकूल चर्चा करनी चाहिये। इस प्रकार जिनसे भी सम्पर्क बने उनसे उनकी रुचि, स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप साहित्य देने वापिस लेने का क्रम चलाना चाहिये। समय पर आवश्यक साहित्य मिल सके उसके लिये "झोला पुस्तकालय" साथ रखना चाहिये।

बड़े पुस्तकालय एवं विद्यालय खोल देने की अपेक्षा एक 'झोला पुस्तकालय' चलाना अधिक सत्परिणाम उपस्थित कर सकता है। पुस्तकालयों में हजारों रुपया मूल्य की पुस्तकें सड़ती रहती हैं। उत्कृष्टता की ओर रुचि न होने से श्रेयस्कर पुस्तकें कोई छूता तक नहीं। गन्दी

और बेहूदी पुस्तकें ही अक्सर पढ़ी जाती हैं । इस प्रकार पुस्तकालय भी उतने उपयोगी सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं । लोगों की सत्साहित्य में रुचि जगाना खास बात है और वह व्यक्तिगत प्रभाव तथा दबाव डालकर ही उत्पन्न करनी पड़ेगी । 'झोला पुस्तकालय' चलाने वाले को यही सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता पूरी करनी पड़ती है । वह अपना सारा बुद्धि कौशल और प्रभाव बाजी पर लगा कर ही अपने क्षेत्र में इस प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न करता है । अतएव श्रेष्ठ साहित्य निर्माण करने वाले से भी अधिक बढ़ा-चढ़ा उसका सत्प्रयत्न माना जा सकता है । 'झोला पुस्तकालय' चलाने वाले का पुण्य परमार्थ किसी दार्शनिक, मनीषी, विद्वान् एवं लोक सेवी से किसी भी प्रकार कम नहीं वरन् कुछ बढ़ कर ही हैं । बीस पैसा प्रतिदिन नियमित रूप से निकालते रहने पर एक झोला पुस्तकालय चलाते रहने के लायक साहित्य मिल सकता है । जो इतना समय और श्रम देने को तत्पर हो जायेगा, उसे इतनी छोटी धनराशि किसी भी प्रकार भार रूप में प्रतीत न होगी । मन में भावना हो तो इतना भार, इतने बड़े परमार्थ का लाभ देखते हुए कोई भी विचारशील व्यक्ति बड़ी आसानी से उठा सकता है । भावना न हो तो फुरसत न होने और आर्थिक तंगी रहने का घिसापिटा बहाना मौजूद ही है । उसे मन समझाने के लिये कोई भी, कभी भी दुहरा सकता है । दो-चार दिन थोड़ी झिझक -संकोच यदि छुड़ा ली जाय, लोगों से मिलने-जुलने और अपनी बात कहने में जो झिझक, भय अनुभव होती है उस आत्महीनता को हटा दिया जाय, तो फिर यह कार्य इतना अधिक आनन्ददायक प्रतीत होता है कि छोड़े नहीं छूटता ।

ज्ञान योग को जनमानस में प्रतिष्ठापित कर देवत्व के जागरण का व्यापक अभियान गतिशील किया जा सकता है । जन्मदिन का प्रचलन और झोला पुस्तकालयों का हर प्रबुद्ध व्यक्ति द्वारा संचालन यह दो कार्य छोटे भले ही दीखें पर परिणाम में इतने महान् हैं कि युग निर्माण जैसी समय की पुकार को इन्हीं के माध्यम से चमत्कारिक रीति से पूर्ण किया जा सकता है ।

हम मनस्वी और आत्म–बल सम्पन्न बनें

कारण शरीर आत्मा का गहनतम स्तर है । उसमें भावनाओं का संचार रहता है । यहाँ निकृष्टता जड़ जमा ले तो मनुष्य नर–पशु ही नहीं रहता वरन् नर–पिशाच बनने के लिये अग्रसर होता जाता है । यदि यहाँ उत्कृष्टता के बीज जम जायें तो देवत्व की ओर प्रगति होनी स्वाभाविक है । जिसकी अन्तरात्मा में आदर्शवादिता के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न हो जाय उसके लिये सांसारिक सुखों का कोई मूल्य नहीं, उसे अपनी आन्तरिक उत्कृष्टता से सम्पर्क में इतना अधिक सन्तोष एवं आनन्द मिलता है कि कितने ही बड़े कष्ट, आपदा, अभाव सहकर भी अपना मार्ग छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता । ऋषि और महापुरुष इसी स्तर के निष्ठावान् व्यक्ति होते हैं । साधन उनके भी सामान्य मनुष्यों जैसे ही होते हैं, पर उनकी आन्तरिक महत्ता जीवन क्रम को उत्कृष्टता की दिशा में इतनी तेजी से अग्रसर करती चली जाती है कि देखते–देखते दूसरों की तुलना में वह अन्तर आकाश–पाताल जैसा बन जाता है । हेय मनोभूमि के व्यक्ति किसी प्रकार मौत के दिन भी कराहते कुड़कुड़ाते व्यतीत कर पाते हैं जब कि वे आदर्शनिष्ठा की चट्टान पर खड़े व्यक्ति स्वयं प्रकाशवान् होते और असंख्यों को प्रकाशवान् करते हैं ।

कारण शरीर में देवत्व के जागरण का प्रथम सोपान है–साहस । अपने भीतर की समस्त सद्भावना को समेट कर साधक को एक दुस्साहस पूर्ण छलांग लगानी पड़ती है, तब कहीं स्वार्थपरता और संकीर्णता का घेरा टूटता है । बहुत से लोग आदर्शवाद की विचारधारा को पसन्द करते हैं, पर जब कभी उन आदर्शों को कार्यान्वित करने का अवसर आता है तभी पीछे हट जाते हैं । संकोच, झिझक, भय, कृपणता, कायरता का मिला–जुला जाल उन्हें कुछ भी साहसपूर्ण कदम नहीं उठाने देता । सोचते बहुत हैं, चाहते बहुत हैं, पर कर कुछ भी नहीं पाते यह दुर्बलता ही आध्यात्म में सबसे बड़ी बाधा है । गीता का अर्जुन आत्म निरीक्षण के उपरान्त अपनी

इस दुर्बलता को अनुभव करता है और कहता है–

कार्पण्यं दोषोपहत स्वभाव प्रच्छामि त्वां धर्म संमूढ़ चेताः ।

"कायरता ने मेरे विवेक का अपहरण कर लिया है । इसलिये विमूढ़ बना मैं अर्जुन आप कृष्ण से पूछता हूँ ।"

कर्तव्य अकर्तव्य की गुत्थी कोई बहुत पेचीदा नहीं है । मानव जीवन का सदुपयोग–दुरुपयोग किसमें है, उस महत्व को बूझना कोई कठिन नहीं है जो अब तक सुना, समझा और विचारा है उसकी सहायता से ऐसा प्रखर कार्यक्रम आसानी से बन सकता है कि हम आज की कीचड़ में से निकल कर कल ही स्वर्ण सिंहासन पर बैठे दिखाई पड़ें । हम इसे जानते न हों ऐसी बात नहीं । बात केवल साहस के अभाव की है । कंजूसी, संकीर्णता, भीरुता हमें त्याग और बलिदान का कोई दुस्साहसपूर्ण कदम नहीं उठाने देती । यदि इस परिधि को तोड़ सकना किसी के लिये सम्भव हो सके तो अपने उस साहस के बल पर ही नर से नारायण बन सकता है ।

समर्थ गुरु रामदास का विवाह हो रहा था । पुरोहित ने 'सावधान' की आवाज लगाई । उसने देखा जीवन के सदुपयोग का अवसर हाथ से निकला जा रहा है, ठीक यही समय सावधान होने का है । वे विवाह मण्डप से भाग खड़े हुए । उनके साहस ने उन्हें महामानव बना दिया । कितनेक लड़की–लड़के विवाह न करके कुछ बड़ा काम करने की बात सोचते रहते हैं पर जब समय आता है. तब भीगी बिल्ली बन जाते हैं । पीछे जब समय गुजर जाता है, तब फिर कुड़कुड़ाते देखे जाते हैं । समर्थ गुरु की तरह जिनमें साहस हो वे ही आदर्शवादिता की दिशा में कोई बड़ा कदम उठा सकते हैं ।

हर महापुरुष को अपने चारों ओर घिरे हुए पुराने ढर्रे के वातावरण को तोड़–फोड़ कर नया पथ प्रशस्त करने का दुस्साहस करना पड़ा है । बुद्ध, गांधी, ईसा, प्रताप, शिवाजी, मीरा, विवेकानन्द, नानक, अरविन्द, भामाशाह, भगतसिंह, कर्वे, ठक्कर बापा, विनोबा, नेहरू आदि किसी भी श्रेष्ठ व्यक्ति का जीवन–क्रम परखें उनमें से हर एक ने पुरानी परिपाटी के ढर्रे को जीने से इनकार कर अपने लिये अलग रास्ता चुना है और उस पर साहसपूर्वक अड़ जाने का साहस दिखाया है । उनके परिवार वाले

तथाकथित मित्र अन्त तक इस प्रकार के साहस को निरुत्साहित ही करते रहे, पर उनने केवल अपने विवेक को स्वीकार किया और प्रत्येक 'शुभ-चिंतक' से दृढ़तापूर्वक असहमति प्रकट कर दी । शूरवीरों का यही रास्ता है । आत्म-कल्याण और विश्व-मंगल की सच्ची आकांक्षा रखने वाले को दुस्साहस को अनिवार्य रीति से शिरोधार्य करना ही पड़ता है । इससे कम क्षमता का व्यक्ति इस मार्ग पर देर तक नहीं चल सकता ।

परमार्थ के लिये स्वार्थ को छोड़ना आवश्यक है । आत्म-कल्याण के लिये भौतिक श्री-समृद्धि की कामनाओं से मुँह मोड़ना पड़ता है । दोनों हाथ लड्डू मिलने वाली उक्ति इस क्षेत्र में चरितार्थ नहीं हो सकती । उन बाल बुद्धि लोगों से हमें कुछ नहीं कहना जो थोड़ा-सा पूजा-पाठ करके विपुल सुख साधन और स्वर्ग मुक्ति दोनों ही पाने की कल्पनायें करते रहते हैं । दो में से एक ही मिल सकता है । जिसकी कामनायें प्रबल हैं वह उन्हीं की उधेड़बुन में इतना जकड़ा रहेगा कि श्रेय साधना एक बहुत दूरी की मधुर कल्पना भर बन कर रह जाती है और जिसे श्रेय साधना है उसे पेट भरने, तन ढकने में ही संतोष करना होगा तभी उसका समय एवं मनोयोग परमार्थ के लिये बच सकेगा । सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के प्रत्येक श्रेयार्थी का इतिहास यही है । उसे भोगों से विमुख हो त्याग का मार्ग अपनाना पड़ा है । आत्मोत्कर्ष की इस कीमत को चुकाये बिना किसी का काम नहीं चलता ।

आम लोगों की मनोभूमि तथा परिस्थिति कामना, वासना, लालसा, संकीर्णता और कायरता के ढर्रे में घूमती रहती है । इस चक्र में घूमते रहने वाला किसी तरह जिन्दगी के दिन ही पूरे कर सकता है । तीर्थ-यात्रा, व्रत-उद्यापन, कथा-कीर्तन, प्रणाम, प्राणायाम जैसे माध्यम मन बहलाने के लिये ठीक हैं, पर उनसे किसी को आत्मा की प्राप्ति या ईश्वर दर्शन जैसे महान् लाभ पाने की आशा नहीं करनी चाहिये । उपासना से नहीं साधना से कल्याण की प्राप्ति होती है और जीवन साधना के लिये व्यक्तिगत जीवन में इतना आदर्शवाद तो प्रतिष्ठापित करना ही होता है जिसमें लोक-मंगल के लिये महत्वपूर्ण स्थान एवं अनुदान सम्भव हो सके ।

इस प्रकार के कदम उठा सकना केवल उसी के लिये संभव है जो त्याग, तप की दृष्टि से आवश्यक साहस प्रदर्शित कर सके । लोगों की निन्दा–स्तुति, प्रसन्नता–अप्रसन्नता का विचार किये बिना विवेक बुद्धि के निर्णय को शिरोधार्य कर सके । यदि वस्तुतः जीवन के सदुपयोग जैसी कुछ वस्तु पानी हो तो हमें साहस करने का अभ्यास प्रशस्त करते हुए दुस्साहसी सिद्ध होने की सीमा तक आगे बढ़ चलना होगा ।

परमार्थ के लिये, आत्म–कल्याण के लिये कुछ अलग से समय और धन निकालने का साहस करने का अनुरोध हर परिजन से किया जाता रहा है । एक घण्टा समय और बीस पैसा प्रतिदिन नियमित रूप से निकालने के लिये कहा गया है । यह तप और त्याग का प्रथम अभ्यास है । निरर्थक भौतिक और धार्मिक विडम्बनाओं में लोग बहुत सारा समय नष्ट करते रहते हैं । पर सही दिशा में थोड़ा त्याग करना भी कठिन पड़ता है । सारा धन गुलछर्रे उड़ाने के लिये ही नहीं है । इन दोनों विभूतियों में अध्यात्म एवं लोकमंगल का भी भाग है और ईमानदारी के साथ उसे दिया जाना चाहिये । इस प्रकार का कदम अपने को और अपनों को अखरता है तो भी साहसपूर्वक इतना त्याग और तप तो करना ही चाहिये ।

यह अनुदान जितना–जितना बढ़ेगा उसी अनुपात से 'युग निर्माण' की सहस्रों योजनाओं को चरितार्थ किया जा सकना सम्भव होगा । यह तप त्याग ही किसी व्यक्ति की महानता का सच्चा इतिहास विनिर्मित करता है । लोक–मंगल के लिये किसी का कितना अनुदान है, इसी कसौटी पर किसी की महानता परखी जाती है । सद्गुणों की आत्मिक सम्पदा भी तो उसी मार्ग पर चलते हुए अर्जित की जाती है । साहसी ही यह सब कर पाता है ।

इन्द्रिय निग्रह में, तितिक्षाओं के अभ्यास में, तप साधनाओं से इसी दुस्साहस की साधना की जाती हैं । अस्वाद व्रत, ब्रह्मचर्य व्रत, उपवास, सर्दी–गर्मी सहना, पैदल यात्रा, दान पुण्य, मौन आदि क्रिया–कलाप इसीलिये हैं कि शरीर यात्रा के प्रचलित ढर्रे को तोड़ कर आन्तरिक इच्छा के अनुसार कार्य के लिये शरीर तथा मन को विवश किया जाय । मनोबल बढ़ाने के लिये ही ये तपश्चर्यायें विनिर्मित की गयी हैं । मनोबल और

साहस एक ही गुण के दो नाम हैं । मन को वश में करना एकाग्रता के अर्थ में नहीं माना जाना चाहिये । एकाग्रता बहुत छोटी चीज है । मन को वश में करने का अर्थ है आकांक्षाओं को भौतिक प्रवृत्तियों से मोड़ कर आत्मिक उद्देश्यों में नियोजित करना । इसी प्रकार आत्म–बल सम्पन्न होने का अर्थ है आदर्शवाद के लिये बड़े से बड़ा त्याग कर सकने का शौर्य ।

हमें मनस्वी और आत्म–बल सम्पन्न होना चाहिये । आदर्शवाद के लिये तप और त्याग कर सकने का साहस अपने भीतर अधिकाधिक मात्रा में जुटाना चाहिये । तभी हमारा कारण शरीर परिपुष्ट होगा और उसमें देवत्व के जागरण की सम्भावना बढ़ेगी । ◉

कारण शरीर में–परमेश्वर की प्रतिष्ठापना

उपनिषद् ने परमात्मा के भावनात्मक स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है–"रसो वै सः" अर्थात् प्रेम ही परमेश्वर है । आँखों से भगवान जिस भी रूप में देखा जा सके, अन्तरात्मा में उसकी संवेदना प्रेम रूप में ही पाई जाती है । जिसके अन्तःकरण में, स्वभाव में, व्यवहार में प्रेम भावना का जितना समन्वय है समझना चाहिये कि इसमें उतना ही ईश्वरत्व घुला हुआ है ।

'प्रेम' वह केन्द्र विन्दु है जिसके इर्द–गिर्द अनेकों आध्यात्मिक सद्गुण विद्यमान रहते हैं । फूल खिलता है तो उस पर अनेक भौंरे, तितली, मधुमक्खी घुमड़ती दिखाई पड़ती हैं । 'प्रेम' तत्व जिसके अन्तःकरण में उगेगा उसमें सौजन्य, सहृदयता, दया, करुणा, सेवा, उदारता, क्षमा, आत्मीयता आदि अनेकों सत्प्रवृत्तियाँ अनायास ही दृष्टिगोचर होंगी । प्रेम–पात्र के प्रति अपार सहानुभूति होती है । उसे अधिक सुखी और समुन्नत बनाने के लिये अन्तःकरण में निरन्तर हिलोरें उठती रहती हैं । जो अपने पास है उसे प्रेमी पर उत्सर्ग करने की अभिलाषा रहती है । इस प्रकार आकांक्षा, अभिलाषा होने पर स्वभावतः प्रिय–पात्र के प्रति अधिक सज्जनता का व्यवहार बन पड़ता है और प्रेम किसी व्यक्ति विशेष तक

सीमित न रह कर यदि विश्व मानव के प्रति–जनता जनार्दन के प्रति व्यापक हो गया हो तो ऐसा व्यक्ति सन्त, ऋषि, सज्जन, देव से कम कुछ हो ही नहीं सकता। मानवोचित–देवोपम समस्त सद्गुण उसमें सुविकसित पाये जायेंगे। जिसमें ऐसी महानता हो उसे इस धरती पर ईश्वर का प्रतीक–प्रतिनिधि ही कहा जायगा।

प्रेमी का दाम्पत्य जीवन स्वर्ग जैसा पाया जायेगा। दूसरी ओर से समुचित प्रत्युत्तर न मिले तो वह अकेला अपने ही सद्व्यवहार से सन्तोष और शान्ति का आधार बनाये रह सकता है। इसी प्रकार कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में कैसे भी लोगों के बीच प्रेमी स्वभाव का व्यक्ति सौजन्यपूर्ण वातावरण बनाये रह सकता है।

नारकीय दुष्टतायें, दुष्प्रवृत्तियाँ उन हृदयों में उगती हैं जो रूखे, नीरस, शुष्क, कठोर, निर्दय प्रकृति के हैं। उनमें एक–एक करके सभी दानवी दुर्गुण एकत्रित होते चले जायेंगे। रंग गोरा और रूप का सुन्दर होते हुए भी ऐसा मनुष्य भयावह नर–पिशाच की तरह अपना आतंक उत्पन्न करके वातावरण को विक्षुब्ध बनाये रहता होगा। शोक, सन्ताप, क्लेश–कलह, द्वेष–दुर्भाव ही उसके चारों ओर उमड़ते–घुमड़ते पाये जायेंगे।

कारण शरीर की उत्कृष्टता प्रेम भावना की अभिवृद्धि पर निर्भर है। "भक्ति के वश में भगवान्" के होने की उक्ति प्रसिद्ध है। भक्ति का अर्थ प्रेम ही तो है। जो प्रेमी है वही भक्त है। जिसके अन्तःकरण में जितनी प्रेम भावनायें उमड़ती हैं ईश्वर उसके उतना ही समीप खिंचता चला आता है। सच तो यह है कि प्रेम ही परमेश्वर है। यह उदात्त भावना जहाँ भी निवास करती है वहाँ अमृत का निर्झर झरता है और इसकी छाया जिस पर पड़ जाती है वह अपने आपको धन्य अनुभव करता है।

कारण शरीर में देवत्व का अभिवर्धन करने के लिये हमें अपनी उपासना में प्रेम–भावना का समावेश करना चाहिये। सामान्यतया गायत्री उपासना की शिक्षा दी गयी है। आत्मा की परिपुष्ट के लिये विभिन्न विधियाँ एवं पद्धतियाँ भी प्रयुक्त की जाती हैं। अपने–अपने स्थान पर यह सभी उपयुक्त हैं, आरम्भ में नाम जप, कीर्तन, पूजन, हवन, श्रृंगार, उपवास, भोग–प्रसाद आदि के माहात्म्य से यह पूजा पद्धतियाँ की जाती हैं, पर

इनका क्रमिक विकास प्रेम भावनाओं की अभिवृद्धि के साथ-साथ ही होता है । मीरा, शबरी, गोपी, सूर, तुलसी आदि की प्रखर भक्ति में उनकी प्रेम भावना ही प्रधान आधार थी ।

मन की एकाग्रता प्रेम-भावना की मात्रा पर ही निर्भर है । मन प्रेम का गुलाम है । जिन वस्तुओं से हमें प्रेम होता है उन्हीं में मन रमा रहता है । ध्यान उन्हीं का रहता है और सुख उन्हीं के चिंतन में मिलता है । अक्सर भजन में चित्त न लगने की, मन के अन्यत्र भाग जाने की शिकायत की जाती रहती है । इसका कारण एक ही है-सांसारिक पदार्थों से वास्तविक प्रेम और ईश्वर से औपचारिक बाँध-बधाव । जिससे वास्तविक प्रेम हो मन उसी में रमेगा । जो पदार्थ, प्राणी अथवा दृश्य प्रिय लगते हैं, उन्हीं में भ्रमण करने के लिये मन भागे जाता है । न तो हम ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानते हैं और न उसके प्रति प्रेम भावना, आत्मीयता जैसी कोई वस्तु अपने पास है । ज्यों-त्यों करके पूजा की लकीर पिटती रहती है । ऐसी दशा में मन लगने की आशा भी कैसे की जा सकती है ? और मन न लगने पर उपासना का उच्चस्तरीय प्रतिफल कहाँ ? उच्चस्तरीय उपासना में प्रेम भावना का समावेश अनिवार्य रूप से आवश्यक है । परिजनों को इसके लिये बहुत समय से प्रेरणा दी जाती रही है । गायत्री माता की गोद में उसके अबोध शिशु की तरह क्रीड़ा करने, पय पान करने का ध्यान इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिये बहुत ही उपयुक्त है । रुचि भिन्नता से जिनको वह ध्यान ठीक तरह न जम पाता हो उनके लिये दो ध्यान और भी हैं जो साधक के अन्तःकरण में तत्काल पुलकन उत्पन्न करते हैं ।

(१) दो बालक समान वय तथा समान स्थिति के सहज स्नेह के वशीभूत होकर गले मिलते हैं, परस्पर एक-दूसरे से लिपटते हैं, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म के अबाध आलिंगन का ध्यान करना चाहिये । आत्मा और परमात्मा अपनी दूरी, पृथकता, भिन्नता दूर कर एक-दूसरे के समीप, अति समीप आकर अभिन्नता की स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करते हैं । द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति उत्पन्न करते हैं ।

राम लक्ष्मण, राम भरत, कृष्ण बलराम के बालकपन का परस्पर

प्रेम मिलन चित्र इस प्रयोजन के लिये उपयोगी हो सकता है । अपनी वैसी ही स्थिति अनुभव करनी चाहिये । जीव और परमात्मा के वीच बहुत वड़ा अन्तर होना, छोटे–बड़े का भाव रहना आत्मीयता एवं एकता में वाधक होता है । समानता में स्नेह का आदान–प्रदान अधिक सुविधा से होता है । पति–पत्नी के प्रेम में जो उभार रहता है उसमें यह समानता ही कारण है । मीरा के योग की यही विशेषता थी । सखी सम्प्रदाय तथा गोपी–प्रेम के वर्णन में, रासलीला में इसी आत्मा और परमात्मा के दाम्पत्य भाव से मिलन का संकेत है । छोटे बालक के रूप में भी दोनों रहकर समानता का आनन्द ले सकते हैं ।

आत्मा अपनी समस्त श्रद्धा और समस्त उपलब्धियाँ परमात्मा को समर्पण करती है और बदले में परमात्मा उसे ज्ञान, विवेक, प्रकाश, आनन्द और परमपद प्रदान करता है । इसे पाकर अन्तःकरण उल्लास आनन्द और सन्तोष से परितृप्त होकर अमृतत्व का रसास्वादन करता है ।

(२) दूसरा ध्यान दीपक पर पतंगे के जलने की तरह आत्मा का परमात्मा में प्रेम विभोर होकर आत्म–समर्पण करने का है । जीव और ब्रह्म के वीच माया ही प्रधान बन्धन है । वही दोनों को एक–दूसरे से पृथक् किये हुए है । अहंता, स्वार्थपरता, ममता, संकीर्णता का कलेवर ही जीव की अपनी पृथकता एवं सीमा बांधता है । उसी की ममता में वह ईश्वर को भूलता और आदेशों की उपेक्षा करता है । इस अहंता कलेवर को यदि नष्ट कर दिया जाय तो जीव और ब्रह्म की एकता असंदिग्ध है । ईश्वरीय प्रेम में प्रधान बाधक यह ममता अहंता ही है ।

ब्रह्म को दीप ज्योति का और अहंता कलेवर युक्त जीव को पतंगा का प्रतीक माना गया है । पतंगा अपने कलेवर का प्रिय पात्र दीपक में एकीभूत होने के लिये परित्याग करता है । अपनी सम्पदा विभूति एवं प्रतिभा को प्रभु की प्रसन्नता के लिये सर्वमेध यज्ञकर्त्ता की तरह होम देता है । विश्व–मानव की पूजा प्रसन्नता के लिये साधक का परिपूर्ण समर्पण यही आत्म–यज्ञ है । इसमें अपने को होमने वाला–ईश्वरीय सान्निध्य की सर्वोच्च गति को पाता है ।

जिस माया मग्नता के कारण ईश्वर और जीव में विरोध था उसका

समर्पण कर देने पर ईश्वरीय अनन्त विभूतियों का अधिकारी साधक बन जाता है और उसे प्रभु का असीम प्यार प्राप्त होता है । बिछुड़न की वेदना दूर होती है और दोनों एक-दूसरे के गले मिलकर अनिर्वचनीय आनन्द का रसास्वादन करते हैं ।

यह दोनों ही ध्यान समानता और समर्पण भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण बड़े सरल, आकर्षक एवं उल्लासपूर्ण हैं । मन आसानी से लगता है और ध्यान में क्रमशः तम्मयता बढ़ती जाती है । इन ध्यानों में याचना की नहीं आत्मदान की भावना है । उच्चस्तरीय साधना का यही आधार भी है । निम्न स्तर की प्राथमिक उपासना में ईश्वर से सांसारिक लाभ अथवा आत्मिक अनुदान माँगे जाते हैं, पर जैसे-जैसे स्तर ऊँचा होता जाता है, साधक माँगने की तुच्छता छोड़ समर्पण की महानता अपनाने के लिये व्याकुल होता है । ध्यान अथवा भावना तक ही उसकी यह साधना सीमित नहीं रहती वरन् वस्तुतः वह विश्व के लिये, लोकमंगल के लिये बड़े से बड़ा अनुदान देकर अपनी गणना बड़े से बड़े भक्तों में कराने का आत्म-सन्तोष उपलब्ध करता है । उसका व्यवहार अपने जीवन, परिवार एवं समाज के प्रति इतना सज्जनतापूर्ण हो जाता है कि प्रतिक्रिया उसे दैवी वरदान की तरह चारों ओर से पुष्प वर्षा करती हुई परिलक्षित होती है । स्वर्ग सुख यही तो है । अहंता और ममता, वासना और तृष्णा के बन्धनों से मुक्त जीव को मरने पर मुक्ति मिलने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वह जीवित रहते हुए भी जीवन मुक्त होता है । ◉

कसौटी के लिये तैयार रहें

तैयारियाँ हर कार्य के लिये की जाती हैं, पर युद्धस्तरीय तैयारी कुछ और ही होती है । युद्ध के लिये हर स्तर पर विशेष व्यवस्थायें की जाती हैं । सामान्य क्रम से कुछ अधिक तत्परता आवश्यक हो जाती है । युग संधिवेला के रूप में यह परिवर्तन प्रक्रिया भी अपनी असामान्य माँग प्रस्तुत करती है ।

युग परिवर्तन की संधि वेलायें-लम्बे समय के बाद कभी-कभी ही

आती हैं, सामान्य काल में सामान्य परिस्थितियाँ चलती रहती हैं और लोगों का जीवन ढर्रा भी सामान्य रीति से ही चलता रहता है, पर जब असामान्य परिवर्तन की विशेष सन्धि वेला आती है तब उस समय जन साधारण के विशेषतया प्रबुद्ध व्यक्तियों के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी कुछ असामान्य हो जाते हैं और निबाहने के लिये उस समय की जागृत आत्माओं को अपनी गतिविधियाँ भी असामान्य ही बनानी पड़ती हैं ।

बीमारी, दुर्घटना, अग्निकाण्ड, मृत्यु, फौजदारी जैसी कोई विशेष आकस्मिक घटना घर में घटित हो जाय तो परिवार के सदस्यों को अपने सामान्य क्रम में परिवर्तन करना पड़ता है और इस प्रकार व्यवस्था बनानी पड़ती है कि उस आकस्मिक परिस्थिति का हल निकल सके । इसी प्रकार युगों का जब परिवर्तन काल आता है तब उसमें विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और उनके समाधान के लिये उत्तरदायी लोगों को आगे बढ़कर अपने सामान्य कार्यक्रमों को छोड़कर उन विशेष कर्तव्यों का पालन करने के लिये तत्पर होना पड़ता है ।

जिन लोगों की अन्तरात्मा अविकसित है, उनके लिये अपने शारीरिक आर्थिक एवं पारिवारिक स्वार्थ इतने प्रबल दिखाई पड़ते हैं कि उनकी पूर्ति वे दिन रात गलते-घुलते रहने पर भी कर नहीं पाते । देश, धर्म, समाज संस्कृति की चर्चा तो उन्हें मनोविनोद के लिये अच्छी लगती है पर जब उनके सम्बन्ध में कुछ कर्तव्य पालन करने, कष्ट सहने या त्याग करने का अवसर आता है तब बगलें झाँकने लगते हैं । वस्तुतः उनका अविकसित अन्तःकरण संकीर्ण स्वार्थों के अतिरिक्त और सोच समझ नहीं पाता, उनके लिये उतना ही दायरा सब कुछ है । मेंढ़क की सारी दुनियाँ कूएँ में भरे हुए पानी जितनी ही है, पर जो इससे कुछ अधिक देखते, समझते और सोचते हैं उनके सामने मानसरोवर से लेकर समुद्र तक की विशाल जल राशि का दृश्य प्रस्तुत रहता है और वे उसी दृष्टिकोण से अपनी गतिविधियाँ निर्धारित करते हैं, जब कि कुएँ का मेढ़क अपने उसी दायरे तक ही सीमित रहता है । जागृत आत्माओं का, प्रबुद्ध व्यक्तियों का, धर्मात्माओं एवं महापुरुषों का एक ही चिन्ह है कि वे संकीर्ण क्षेत्र में सीमित नहीं रहते, शरीर घर और धन इतना ही सब कुछ है ऐसा वे नहीं

मानते और उसके अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य भी उनका है ऐसा वे सोचते हैं । अपने समय की, देश, धर्म, संस्कृति एवं समाज की जिम्मेदारियाँ वे समझते हैं और उनकी सामयिक आवश्यकतायें पूरी करने के लिये वे कुछ करते भी हैं । बकवास से नहीं कार्यों से ही किसी की महानता परखी जा सकती है ।

परीक्षा के समय कभी-कभी आते हैं । वे जब आते हैं तब वह यह परखते हैं कि इसने अब तक जो किया है उसके पीछे उसकी लगन, निष्ठा एवं वास्तविकता कितनी है । वार्षिक परीक्षा छात्रों के परिश्रमी, अध्यवसायी, लगनशील होने न होने की परख कर देती है । बातूनी लड़के अपनी प्रशंसा में लम्बी चौड़ी डींगें हाँकते रहते हैं । परीक्षा उसकी वास्तविकता-अवास्तविकता का निर्णय कर देती है । इसी प्रकार आदर्शवादी के जीवन में वे परीक्षा काल आते हैं जिनकी कसौटी पर यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्धान्तों एवं आदर्शों के प्रति उनकी आस्था कितनी वास्तविक-अवास्तविक थी । राजा हरिश्चन्द्र, प्रहलाद, कर्ण, भीष्म, राम, कृष्ण, दधीचि, शिवि आदि के सामने परीक्षा के अवसर आये थे, उनमें वे खरे उतरे तो उनकी वास्तविकता प्रमाणित हो गयी और वे सच्चे आदर्शवादियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो सके ।

कोई आदर्शवादी धर्म एवं अध्यात्म की बात तो बहुत करे, पर परीक्षा का समय आने पर इधर-उधर छिप रहे तो उसकी आस्था संदिग्ध ही मानी जायगी । ईश्वर और धर्म की मान्यतायें केवल इसीलिये हैं कि इन आस्थाओं को हृदयंगम करने वाला व्यक्ति, निजी जीवन में सदाचारी और सामाजिक जीवन में परमार्थी बने । यदि यह दोनों प्रयोजन सिद्ध न होते हों, इन दोनों कसौटियों पर वास्तविकता सिद्ध न होती हो तो यही कहना पड़ेगा कि यह तथाकथित ईश्वर भक्ति और धर्मात्मापन दम्भ मात्र था । अपने लिये धन-दौलत और बेटे-पोते चाहने की कामना से माला घुमाते रहने का नाम ही भजन नहीं है वरन् उसका प्रमुख चिन्ह यह है कि जिसे ईश्वर से प्रेम हो वह उसकी दुनियाँ को अधिक सुन्दर, अधिक व्यवस्थित अधिक विकसित बनाने में अधिक से अधिक योगदान करे । इस दिशा में किया हुआ त्याग, बलिदान ही किसी व्यक्ति के प्रबुद्ध, जागृत,

आदर्शवादी, ईश्वर भक्त एवं धर्मात्मा होने का चिन्ह हो सकता है ।

विद्यार्थी साल–भर पढ़ते हैं उस सामान्य समय में किसी के अध्ययन का ठीक तरह पता नहीं चलता । वार्षिक परीक्षा के दस–बीस दिन ही होते हैं, पर वे दूध पानी का विश्लेषण करके रख जाते हैं । सामान्यकाल में किसी बकवादी एवं दम्भी, को भी ईश्वर भक्त, धर्मात्मा या आदर्शवादी समझा जा सकता है, पर जब परख की असामान्य घड़ी सामने आ उपस्थित हो तो यह पता चल जाता है कि कौन कितने गहरे पानी में है । चिरकाल के पश्चात इन दिनों ऐसा समय आया है जिसमें जन–साधारण की भीड़ में छिपे हुए नर–रत्नों, महामानवों एवं अध्यात्मवादियों को आगे आने, ऊँचे उठने और चमकने का अवसर मिलेगा । दूध जब गरम होता है, तो उसमें जितने अंश घी के होते हैं वे मलाई के रूप में ऊपर तैर कर आ जाते हैं । जिस समाज में जो महान आत्मायें छिपी रहती हैं, उनके प्रकाश में आने का अवसर ऐसे ही परीक्षा–काल में आता है जैसा कि आजकल है ।

बड़े कार्य सामान्य शक्ति से नहीं हो सकते कार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रयुक्त किये जाने वाले उपकरण पहले परीक्षित कर लिये जाते हैं । महत्त्वपूर्ण पदों की नियुक्ति के पूर्व कड़ी परीक्षायें होती हैं । आत्मिक स्तर पर किये जाने वाले बड़े कार्यों को सबल आत्मायें ही कर सकती हैं । उनके लिये यदि कठोर परीक्षायें न रखी जायें तो कुपात्रों के हाथ में जाकर योजना ही चौपट हो जाये । नव निर्माण के कठिन कार्य को पूरा करने के लिये जिन महान आत्माओं को उभर कर ऊपर आना है, उन्हें कठिनतम परिस्थितियों में अपनी प्रामाणिकता का परिचय देते हुए आगे बढ़ना होगा ।

निर्माण का इतिहास कठोर श्रम का इतिहास है । देश–विदेश के उदाहरण यही प्रतिपादित करते हैं–विगत एक सौ वर्षों में इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, रूस, चीन, जापान आदि देशों ने कितनी आश्चर्यजनक प्रगति की है । सौ वर्ष पूर्व इन देशों की दशा आज की तुलना में बहुत ही गई–गुजरी थी । भारतवर्ष को जो भौतिक एवं आध्यात्मिक साधन उपलब्ध हैं, उनके आधार पर वह २५ वर्षों में उतनी प्रगति कर सकता है जितनी दूसरों ने सौ वर्षों में की है, पर इसके लिये आवश्यकता उन

सेना-नायकों की है, जो भारतीय जनता के अस्त-व्यस्त लोक मानस को चमकाकर, उलट-पुलट कर रख दें और प्राचीनता के आधार पर उसका नव-निर्माण करने के लिये कटिबद्ध हों । ऐसे लोगों का अभाव नहीं, केवल निरुत्साह ही बाधक है । यदि यह कमी दूर हो सके, जन-जागरण के लिये एक सुगठित सेना की तरह यदि बौद्धिक-क्रान्ति करने वाले आदर्शवादी लोक-सेवक निकल पड़ें तो देश का काया-कल्प ही हो सकता है । सीमाओं पर आक्रमण करने वाले तो झक मार कर बैठ ही जायेंगे, साथ ही विघटनकारी अन्तर्द्वन्दों का भी कहीं पता न चलेगा । भाषा, प्रान्त और जाति, सम्प्रदायों के नाम पर जो विघटनकारी दुष्प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं उनका कहीं पता भी न चलेगा ।

उज्ज्वल भविष्य की समस्त सम्भावनायें इस बात पर निर्भर हैं कि प्रबुद्ध, जागृत एवं प्रतिभावान् व्यक्ति अपनी सीमाबद्धताओं में ही उलझे न रहकर युग निर्माण के लिये-जनसाधारण के लिये कुछ कर गुजरने को कटिबद्ध हों । प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्यों के द्वारा जनता को संगठित, जागृत एवं कर्तव्यपरायण बनाया जा सकता है । यह कार्य राजनीति से नहीं, धर्म के मंच से ही संभव होगा । भारत की ८० फीसदी जनता अशिक्षित है और इतने ही लोग देहातों में रहते हैं, उन्हें किसी अन्य स्तर पर नहीं, केवल धार्मिक स्तर पर ही आन्दोलित किया जा सकता है । शिक्षित एवं शहरी वर्ग में भी उनकी आदर्शवादिता को उभारने का प्रयोजन केवल धर्म एवं अध्यात्म के आधार पर ही सम्भव हो सकता है ।

युग निर्माण परिवार में जो प्रबुद्ध आत्मायें हैं, उन्हें युग पुकारता है । वे संकीर्ण स्वार्थपरता का वैयक्तिक जीवन जीने की अपेक्षा युद्ध मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिकों की तरह त्याग-बलिदान करने के लिये तत्पर हों, समय दान करें, जन-सम्पर्क के लिये अवसर निकालें और जन-जन के मन-मन में नव-जीवन का संचार करने वाली भावनायें भरें, तब काम चलेगा ।

लोग अपने को धर्मात्मा, ईश्वर भक्त एवं आदर्शवादी कहते, मानते हैं, उनके लिये आज की अग्नि परीक्षा की घड़ियाँ कुछ करने के लिये कह रही हैं । यदि उनमें से कोई कुछ करना चाहे तो अपनी स्थिति के

अनुरूप बहुत कुछ कर सकता है । युग निर्माण योजना के शतसूत्री कार्यक्रम उसे सादर आमंत्रित करते हैं । जो केवल पूजा पाठ की थोड़ी चिन्ह पूजा करके ही स्वर्ग, मुक्ति, ईश्वर दर्शन के सपने देखते हैं, उन्हें जानना चाहिये कि उनकी सचाई और आस्था अग्नि परीक्षा की कसौटी पर कसी जा रही हैं । यदि वे कष्ट साध्य कर्तव्यों से कतराते है तो मुलम्मा चढ़े सोने की तरह उस पर से उनकी आब जनता जनार्दन के सामने उतर ही जायेगी ।

वे वयोवृद्ध व्यक्ति जिनके ऊपर से कमाने धमाने की जिम्मेदारी चली गयी है, बच्चे परिवार की व्यवस्था संभाल लेते हैं, उन्हें अपने अधिकांश समय को राष्ट्रीय जागरण के लिये लगाना चाहिये । आज की परिस्थिति में ईश्वर की सबसे उत्तम भक्ति और आत्म–कल्याण की सर्वश्रेष्ठ साधना यही हो सकती हैं कि इस देवभूमि भारत को धरती का स्वर्ग बनाने के लिये जन–जन में विवेकशीलता एवं आदर्शवादिता की भावनायें उत्पन्न की जायें इस साधना में लगे हुए वयोवृद्ध व्यक्ति अपना लोक परलोक सुधारेंगे, आत्म–कल्याण और ईश्वर प्राप्ति का लाभ प्राप्त करेंगे तथा देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति के पुनरुत्थान में योगदान देकर अक्षय पुण्य अर्जित करेंगे । यों घर में कुछ न कुछ काम तो सदा ही लगा रहता है, पर राष्ट्र के नवनिर्माण का कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इस आड़े समय में तो सब काम छोड़कर भी उसे प्रधानता दी जानी चाहिये । फिर अवकाश प्राप्त वयोवृद्ध तो घर वालों की बिना कुछ अधिक हानि किये ही अपने अनुभवी व्यक्तित्व का बहुत कुछ लाभ जनता को दे सकते हैं ।

जो कई भाई हैं, उनमें से एक को समाज सेवा के लिये समय देना चाहिये । शेष भाई उसके पारिवारिक उत्तरदायित्वों को वहन करें और निश्चिन्तता पूर्वक समाज सेवा करने दें । जिस प्रकार युद्ध के लिये कितने ही परिवारों ने अपने यहाँ से एक–एक सैनिक दिया है, उसी प्रकार धर्म परायण लोग भी अपने घरों से एक–एक सुयोग्य प्रतिभाशाली व्यक्ति धर्म सेना में भर्ती होने के लिये दें । जिसका धर्म से सीधा सम्बन्ध नहीं है, वे शौर्य और देशभक्ति से प्रेरित होकर अपने घरों के नौनिहालों को गोलियों का सामना करने के लिये भेज सकते हैं । जो लोग धर्म, ईश्वर,

अध्यात्म, वैराग्य आदि की लम्बी–चौड़ी बातें करते हैं उन्हें गोली के सामने न सही तो समाज सेवा के लिये तो अपने परिवारों से एक–एक व्यक्ति देना ही चाहिये ।

जिन लोगों के पास आजीविका के साधन मौजूद हैं, जमीन या पैसा किराये पर उठाकर जो लोग अपना खर्च चलाने की स्थिति में हैं, उनके लिये यही उचित है कि अब अधिक कमाई के, संग्रह करने, जोड़ने और बढ़ाने के कुचक्र से न फसें । अगला समय ऐसा आ रहा है जिसमें वैयक्तिक धन अधिक मात्रा में किसी के पास भी न रहेगा । गुजारे–भर के लिये सामान्य लोगों की सी साधन सामग्री रह जायेगी, ऐसी दशा में जो लोग पूँजी बढ़ाने और भविष्य के लिये दौलत जोड़ने की सोचते हैं, वे भारी भ्रम में हैं । शहद की मक्खी की तरह अनावश्यक श्रम दूसरों के लिये धन कमाने में खर्च किया जाय तो इसकी अपेक्षा यही उत्तम है कि जब गुजारे की व्यवस्था है तो अपना समय और श्रम लोक मंगल के लिये ही क्यों न खर्च किया जाय ?

साधु ब्राह्मणों का तो यह एक परम पवित्र कर्तव्य है कि इस समय जिस धर्म के आश्रय में वे अपनी आजीविका चलाते हैं और पूजा सम्मान प्राप्त करते हैं, उस धर्म रक्षा के लिये उन्हें कुछ काम भी करना चाहिये, कुछ कष्ट भी उठाना चाहिये । आज जब कि धर्मसंकट में है, देश की सुरक्षा एवं प्रगति का प्रश्न है, तब तो उन्हें उन आदर्शों को परिपुष्ट करने के लिये अपना समय लगाना ही चाहिये । ऐसी विषम परिस्थितियों में भी दक्षिणा बटोरने और पैर पुजाने का ही धन्धा करते रहे, कर्तव्य को तिलाञ्जलि दिये बैठे रहे तो आगामी पीढ़ियाँ उन्हें क्षमा न करेंगी । उन्हें धर्मध्वजी होने का सम्मान तो दूर, सामान्य नागरिक स्तर का भी उन्हें न गिना जायगा । उनकी आज की अकर्मण्यता भविष्य में साधु–ब्राह्मण संस्था का ही महत्व एवं गौरव समाप्त कर देगी । इसलिये उन्हें तो समय रहते चेत ही जाना चाहिये ।

हर नागरिक के पास कुछ समय रहता है । आजीविका कमाने और शरीर यात्रा के दैनिक कार्यों के अतिरिक्त हर व्यक्ति के पास कुछ समय बचता है । यदि बचता न होता तो गपशप, यारबाशी, सिनेमा, शतरंज, ताश,

यात्रा,. मेले–ठेले आदि के लिये समय कहाँ से मिलता है ? लेखा जोखा लेने पर हर आदमी के पास कुछ न कुछ ऐसा समय जरूर मिलेगा, जिसे वह नित्यकर्म और रोटी कमाने के अतिरिक्त अपनी मनमर्जी के कामों में लगाता है । यह मन मर्जी यदि हलके और ओछे कामों में न लगे, जन जागरण और नव–निर्माण के रचनात्मक कार्यों में लगे तो व्यस्त से व्यस्त व्यक्ति भी इतना कार्य कर सकता है, जिससे वह आत्म–सन्तोष और आत्म–गौरव अनुभव कर सके । आवश्यकता केवल अभिरुचि बदलने की है । दूसरों को उपदेश करने की अपेक्षा अव अपने को रचनात्मक कार्य करने में संलग्न करना चाहिये । अपनी आदर्शवादिताकी सचाई को प्रमाणित करना चाहिये । जिनमें आदर्शवादिता के प्रति आस्था एवं ममता है, जो उसे बढ़ते एवं आकर्षित होते देखना चाहते हैं, उन्हें अपने सम्य का एक अंश राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिये कुछ करने के लिये लगाना ही चाहिये । साधारण नागरिक होने पर भी यदि कुछ भावना हो तो हर व्यक्ति बहुत कुछ कर सकता है यह समय ऐसा भी है, जब कि कुछ न कुछ हर व्यक्ति को करना ही चाहिये ।

यों समस्त प्रबुद्ध वर्ग के सामने अपनी समझदारी का परिचय देने का यह अवसर है, पर युग निर्माण परिवार से सम्बद्ध व्यक्तियों ने गतदिनों जो शिक्षा प्राप्त की है उसे वस्तुतः समझा अपनाया है या नहीं, इसकी परख का ठीक यही वक्त है । प्रस्तुत समय की चुनौती को अस्वीकार कर हमें अपना खोखलापन प्रमाणित नहीं करना चाहिये ।

शुद्ध धर्म–तंत्र का अस्त्र संधान

विश्व के नवनिर्माण का अभियान विभिन्न स्तरों पर चलेगा, हर सुसंस्कारी व्यक्ति एक इकाई के रूप में कार्य करेगा । पर भारतवर्ष को एक विशाल सांस्कृतिक इकाई के रूप में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका भी इसमें निभानी होगी । सांस्कृतिक नेतृत्व भारतवर्ष करता आया है और अब भी उसे वह करना ही होगा । उस स्थिति तक पहुँचने के लिये बहुत कुछ किया जा रहा है और किया जावेगा भी । इस विशाल राष्ट्र को अपनी

महान गौरव गरिमा के अनुरूप बनना ढलना ही होगा । यह छोटा–सा सामान्य कार्य नहीं और नहीं इसका मूल्यांकन स्थूल दृष्टि से किया जा सकेगा । स्थूल–साधन और प्रयास उसके लिये सहायक सिद्ध हो सकते हैं, पर उनके अतिरिक्त भावनात्मक स्तर पर भी बहुत कुछ किया जाना आवश्यक है ।

पिछले दिनों राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से सरकारी गैर सरकारी क्षेत्रों में बहुत काम हुआ है । हमें उसका मूल्य कम नहीं आँकना चाहिये । हमारे नेताओं, शासकों, ने अपनी बुद्धि के अनुसार कृषि, उद्योग, परिवहन, विद्युत, शिक्षा, चिकित्सा, उत्पादन, न्याय व्यवस्था आदि की दृष्टि से बहुत कुछ किया है । उनके प्रयत्नों की प्रशंसा की जानी चाहिये । हम उनका मूल्य घटा नहीं रहे हैं वरन् कह यह रहे हैं कि भावनात्मक उत्सर्ग की आवश्यकता जब तक पूर्ण न की जायेगी तब तक इस भौतिक प्रगति का कोई वास्तविक लाभ न मिल सकेगा । मनुष्य वस्तुतः आत्मा है । उसकी शक्ति का स्रोत बाहर नहीं भीतर है । भीतरी दृष्टि से निष्प्राण व्यक्ति बाहरी दृष्टि से कितना ही सुसज्जित क्यों न हो, उसकी सुन्दरता एवं उपयोगिता ही नहीं रहेगी, इसके विपरीत भीतर से सशक्त कोई प्राणवान, स्वस्थ एवं चैतन्य व्यक्ति बाहर से फटे–टूटे परिधान धारण करने पर भी अपनी महत्ता अक्षुण्ण बनाये रहेगा ।

आत्मा की तुलना में शरीर का मूल्य स्वल्प है । उसी प्रकार भावनात्मक सशक्तता की तुलना में भौतिक समृद्धि तुच्छ है । भौतिक उन्नति के बड़े से बड़े प्रयत्न तब तक नगण्य ही माने जाते रहेंगे जब तक उनकी अपेक्षा अनेक गुना प्रयास आन्तरिक विकास के लिये न किया जाय । आज हमारी यही सबसे बड़ा भूल है । इसी आवश्यकता का मूल्य कम आँक कर हमने कोल्हू के बैल की तरह बहुत श्रम करने के उपरान्त भी कोई बड़ी मंजिल तय करने में सफलता नहीं पायी है । अब समय आ पहुँचा है कि यह भूल सुधारने के लिये हमें अविलम्ब कटिबद्ध हो जाना चाहिये ।

यह एक स्पष्ट तथ्य है कि भावनात्मक परिवर्तन धर्म तन्त्र के माध्यम से ही होना संभव है । भय और आतंक के बल पर अधिनायकवाद द्वारा

लोगों को किसी मार्ग पर चलने के लिये विवश किया जा सकता है, पर इस प्रकार भी भावना बदलना संभव नहीं । उत्पीड़न के भय से लोगों के शरीर ही काम करने लगते हैं मन नहीं बदलता । भीतर छिपा हुआ चोर अवसर पाते ही उभर आता है और दाव लगने पर अधिक जहरीला डंक मारता है । अच्छा तरीका यही हैं कि आदर्शवाद की उत्कृष्टता से श्रद्धा–धर्म और ईश्वर में सच्ची आस्था उत्पन्न कर जन–साधारण को कर्तव्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ, समाजनिष्ठ बनाया जाय । यह कार्य राजनैतिक लोगों का नहीं । उन्हें पग–पग पर कूटनीति अपनानी पड़ती है । फलस्वरूप लोग उन्हें प्रतिभावान तो मानते हैं पर आदर्शवान नहीं । राजनीति में गान्धी जैसे संत कोई विरले ही होते हैं, शेष तो दिन–रात हेर–फेर चलाने वाले होते हैं, इसलिये वे लोगों में न उत्साह उत्पन्न कर सकते हैं न आस्थायें विनिर्मित करने में सफल हो सकते हैं । यह कार्य धर्म क्षेत्र में कार्य करने वाले, उत्कृष्ट चरित्र एवं आस्थावान् व्यक्ति ही अपने चरित्र एवं उदाहरण से जन–साधारण को भावनात्मक प्रगति के लिये प्रेरणा देकर कर सकते हैं । उन्हीं के उपदेशों का कुछ ठोस प्रभाव भी पड़ सकता है ।

सामान्य मनुष्यों के कथन की अपेक्षा भगवान या शास्त्रों के द्वारा कहे हुए निर्देश लोगो को अधिक प्रभावित करते हैं, इसलिये सामान्य प्रवचनों की अपेक्षा शास्त्र कथा–यदि ढंग से कही जा सके तो उसका अधिक प्रभाव पड़ता है । प्राचीन काल में महान तत्ववेत्ता ऋषियों ने मानव अन्तःकरण को उत्कृष्ट बनाने की आवश्यकता अनुभव की थी और उसके लिये जो सांगोपांग विधि व्यवस्था–मानव तत्वों की गहन शोधों के आधार पर बनाई उसे ही धर्मतन्त्र घोषित किया गया । इसे आज की आडम्बरपूर्ण स्थिति में उपहासास्पद भले ही माना जाता हो पर वस्तुतः उसका मूल स्वरूप समग्र वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर विनिर्मित है । इसका अवलम्बन लेकर मनुष्य भीतरी दृष्टि से इतना समर्थ एवं सुविकसित हो सकता है कि बाह्य समृद्धि उसके पीछे–पीछे भागी फिरे ।

आज की राष्ट्रीय विपन्न परिस्थितियों में हमें यही करना होगा । भावनात्मक उत्कृष्टता की अभिवृद्धि के लिये धर्मतन्त्र का सहारा लेना

होगा ताकि जन–मानस के गहन अन्तराल को कोमल स्पर्श करके उसके प्रसुप्त देवत्व को जागृत किया जा सके । इसी प्रकाश से हमारी अगणित कठिनाइयों की अँधियारी दूर हो सकेगी । मनुष्य भीतर से महान बनेगा तो बाहर से भी उसकी समृद्धि एवं शक्ति असीम होकर रहेगी ।

हम राजनीति के चकाचोंध को देखते हैं और उसी के आधार पर समस्याओं को हल करने की बात सोचते हैं । धर्मतन्त्र की शक्ति और संभावना से हम एक प्रकार से अपरिचित जैसे हो चले हैं । बेशक राजनीति की तरह धर्मनीति में भारी विकृतियाँ और भ्रष्टतायें घुस पड़ी हैं, उन्हें सुधारना और बदलना पड़ेगा । शुद्ध स्वरूप में धर्म इतना सामर्थ्यवान है कि राजनीति की सामर्थ्य उसकी तुलना में नगण्य ही ठहरती है । शासन संचालन में लगभग लाखों कर्मचारी संलग्न हैं जब कि धर्म को आजीविका बनाकर गुजारा करने वालों की संख्या कहीं उसके दूने से भी अधिक है । जितना टैक्स सरकार वसूल करती है उससे लगभग दूना धन धर्म कार्यों में खर्च होता है । तीर्थयात्रा, पर्वस्नान, कुम्भ जैसे धार्मिक मेले, यज्ञ, सम्मेलन, कथा–वार्ता, मन्दिर, मठ, साधुओं की जमातें, धर्मानुष्ठानों के अवसरों पर किये जाने वाले दान, पूजा, उपकरण, धर्म ग्रन्थ, प्रतिमायें आदि सब मिलाकर धर्म के नाम पर जनता प्रचुर मात्रा में खुशी–खुशी धन खर्च करती है । जप, आह्वान संयम आदि के लिये लोग कष्ट भी सहते हैं । धर्म प्रयोजनों के लिये मंदिर आदि की इतनी अधिक इमारतें बनी हुई हैं जो सरकारी इमारतों से किसी प्रकार कम नहीं । धर्म प्रयोजनों में जनता की श्रद्धा भी कम नहीं । समय आने पर वह उसके लिये बहुत कुछ त्याग करने को भी तैयार हो जाती है ।

सच तो यह है कि हमने स्वाधीनता संग्राम भी धर्म के नाम पर लड़ा है । महात्मा गांधी के नाम के साथ 'महात्मा' शब्द न होता तो संभवतः उन्हें इतना जन सहयोग न मिल सका होता । रामराज्य की स्थापना की उनकी घोषणा के आधार पर भारत की जनता मर–मिटने को तैयार हुई थी । सन् ५७ का स्वतंत्रता संग्राम चर्बीयुक्त कारतूस मुँह में लगाने में धर्म भ्रष्टता अनुभव करने वाले सैनिकों द्वारा ही भड़का था । क्रान्तिकारियों ने गीता की पुस्तकें छाती से बाँधकर फाँसी के तख्ते पर

चढ़ते हुए जनता की श्रद्धा अर्जित की थी।

बेशक, आज धर्म तन्त्र बुरी दशा में विकृत बना लुंज-पुंज पड़ा है और अपनी उपयोगिता खो बैठा है। फिर भी यह संभावना पूरी तरह विद्यमान है कि यदि उसे सुव्यवस्थित बनाया जा सके और प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा नव-निर्माण के प्रयोजनों में प्रयुक्त किया जा सके तो इसका परिणाम आशाजनक सफलता ही होगा। इतिहास बताता है कि धर्मतन्त्र सृष्टि के आदि से अब तक कितना शक्तिशाली रहा है। उसने सदा से राजतन्त्र पर नियन्त्रण करने की अपनी वरिष्टता को कायम रखा है। समय बतावेगा कि उसी के द्वारा मानव जाति की आत्यन्तिक समस्याओं का समाधान होगा। राजनीति को कितनी ही प्रमुखता क्यों न मिली हो, उसकी महत्ता के अनुरूप-प्रतिष्ठा मिलने ही वाली है। कारण स्पष्ट है। मानव-जाति की भौतिक आवश्यकतायें और समस्यायें स्वल्प हैं। उन्हें बुद्धिमान मानव प्राणी आसानी से हल कर सकता है। जिस विभीषिका ने अगणित गुत्थियाँ उलझा रखी हैं वह भावनात्मक विकृति ही है। मनुष्य का आन्तरिक स्तर गिर जाने से उसने पशु एवं पिशाच वृत्ति अपना रखी है। इसी से पग-पग कलह और क्लेश के आडम्बर खड़े दिखाई पड़ते हैं। यदि भावनात्मक उत्त्कृष्टता संसार में बढ़ जाये तो आज हर मनुष्य देवताओं जैसा महान दिखाई दे और सर्वत्र स्वर्गीय सुख-शान्ति का वातावरण दृष्टिगोचर होने लगे। समस्त रोगों का निदान एक ही है-समस्त समस्याओं का हल यह एक ही है।

हमें जड़ तक पहुँचाना होगा और उसी को सींचना होगा। रोग के अनुरूप चिकित्सा खोजनी होगी। जहाँ छेद है वहाँ बन्द करना होगा अन्यथा सुख-शान्ति के व प्रगति एवं समृद्धि के स्वप्न कभी भी साकार न हो सकेंगे। बालू के महल रोज बनते बिगड़ते रहेंगे मगर उनसे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध न होगा। भारत के पुनरुत्थान में निश्चित रूप से धर्म को ही महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ेगी। क्योंकि जनसाधारण की प्रसुप्त आन्तरिक सत्प्रवृत्तियों को इसी आधार पर जगाया जा सकना सम्भव होगा। जितनी जल्दी इस तथ्य को हम हृदयंगम कर लें उतना ही उत्तम है।

राष्ट्र के अतीत गौरव के अनुरूप हमें पुनः अपने उज्ज्वल भविष्य

का निर्माण करना ही होगा । प्रबुद्ध आत्माओं के सामने यह चुनौती प्रस्तुत हुई है कि वे अपनी तुच्छ तृष्णाओं तक सीमाबद्ध संकीर्ण जीवन बिता देने की अपेक्षा किसी तरह संतोष से गुजारा चलाते हुए अपनी बढ़ती शक्तियों का उपयोग अपने युग की विषम समस्याओं को सुलझाने के लिये करने को तत्पर हों । चारों ओर आग लगी हो और उसे बुझाने की अपेक्षा अपनी चैन की वंशी बजाने में जो संलग्न हों ऐसे प्रतिभावान की, सामर्थ्यवान की विकृत गतिविधियों पर विश्व मानव की घृणा ही बरसेगी । भावी पीढ़ियाँ उसे फटकारेंगी । कर्तव्य से विमुख रहने के कारण आन्तरात्मा उसे कोसती ही रहेगी ।

हम सैभाग्य या दुर्भाग्य से अग्नि परीक्षा के युग में पैदा हुए हैं । इसलिये सामान्य काल की अपेक्षा हमारे सामने उत्तरदायित्व भी अत्यधिक है । अतएव उपेक्षा करने का दण्ड भी अधिक है । संकटकाल के कर्तव्य और उत्तरदायित्व प्रतिबन्ध एवं दण्ड विधान भी विशेष होते हैं । आज वैसी ही स्थिति है । मानव जाति अपनी दुर्बुद्धि से ऐसे दल–दल में फँस गयी है जिसमें से बाहर निकलना उसके लिये कठिन हो रहा है । मर्मान्तक पीड़ा से उसे करुणक्रन्दन करना पड़ा रहा है । परिस्थितियाँ उन सभी समर्थ व्यक्तियों को पुकारती हैं कि इस विश्व संकट की घड़ी में उन्हें कुछ साहस और त्याग का परिचय देना ही चाहिये । पतन को उत्थान में बदलने के लिये उन्हें कुछ करना ही चाहिये । हम चाहें तो थोड़ा–थोड़ा सहयोग देकर देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति के पुनरुत्थान के लिये बहुत कुछ कर सकते हैं और नया संसार, सुन्दर संसार, उत्कृष्ट संसार बनाने के लिये एक चतुर शिल्पी की तरह अपनी सहृदयता कलाकारिता का परिचय दे सकते हैं । पेट भरने के लिये पशु की तरह जीवित रहना, इन परिस्थितियों में कैसे संभव हो सकता है ? हमारे पाठकों में से शायद ही कोई इस तरह का अभिशाप जैसा जीवन जीना पसन्द करे ।

धर्म का रूप आज पूजा, पाठ, तिलक, छाप, जटा, कमण्डल, स्नान, मन्दिर दर्शन या थोड़ा–सा दान–पुण्य कर देना मात्र मान लिया गया है । इतना कुछ कर लेने वाले अपने को धर्मात्मा समझने लगते हैं । हमें समझना और समझाना होगा कि यह धर्म का एक नगण्य अंश है । समग्र

धर्म की धारणा आत्म–संयम, उज्जवल चरित्र, उदारता, ज्वलंत देश–भक्ति एवं लोक सेवा की तत्परता में ही सम्भव है । धर्मात्मा के लिये दयालु क्षमाशील बनाना ही पर्याप्त नहीं वरन् उसके लिये सद्गुणी, शिष्ट, ईमानदार, कर्तव्य परायण, साहसी, विवेकशील अनीति के विरुद्ध लोहा लेने का शौर्य एवं कठोर श्रम करने का उत्साह भी अनिवार्य अंग है । जब तक इन गुणों का विकास न हो तब तक कोई व्यक्ति सच्चे अर्थों में कदापि धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं बन सकता ।

हमें जनसाधारण को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाना पड़ेगा और बताना पड़ेगा कि सुख–शान्ति का एक मात्र अवलम्बन धर्म ही है । जो धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा होती है और जो धर्म को मारता है–धर्म उसे भी मार ही डालता है । अधर्म के मार्ग पर न कोई अब तक फला–फूला है और न सुख– शान्ति से रहा है । आगे भी यही क्रम अन्तराल तक चलता रहने वाला है । यह आस्था जब तक जन–मानस में गहराई तक प्रवेश न करेगी तब तक मानव जाति की समस्याओं एवं कठिनाइयों का हल न हो सकेगा । हमें अच्छा मनुष्य बनना चाहिये । नेक मनुष्य बनाना चाहिये और सशक्त मनुष्य बनना चाहिये । शक्ति, नेकी और व्यवस्था यह तीनों ही धर्म के गुण हैं । व्यक्ति का समग्र विकास ही धर्म का उद्देश्य है ।

धर्मतन्त्र को सशक्त बनाना संसार की सबसे बड़ी सेवा है, ईश्वर की सबसे बड़ी पूजा है । हमें इसी के लिये कटिबद्ध होना चाहिये । अपने समय और धन का एक अंश नियमित रूप से इस कार्य के लिये लगाना चाहिये । जो रोटी कमाने और बच्चे पैदा करने तक ही सीमित रह गये उन्होंने नर तन पाने का महत्त्व नहीं समझा तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसे अभागे लोग अपनी दुर्बुद्धि पर हाथ मल–मल कर पश्चात्ताप करते हुए ही विदा होते होंगे । अच्छा हो हम समय रहते चेतें । अपने को धर्म–परायण बनाने और जन–मानस में धर्म–धारणा उत्पन्न करने के लिये ऐसा प्रयास करें जिससे अपनी आत्मा सन्तुष्ट हो और दूसरे लोग प्रकाश एवं प्रेरणा प्राप्त करके, कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो सकें । ऐसी ही गतिविधि अपनाना हमारे लिये उचित है । इस युग के इस महान धर्म का, महाभारत

का नेतृत्व करने के लिये मनस्वी धर्म सैनिकों की आज अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है, इसकी पूर्ति के लिये कर्मठ विभूतिवान व्यक्तियों को साहसपूर्वक आगे बढ़कर आना चाहिये ।

समय आ पहुँचा, जब जन नेतृत्व का भार धर्म तन्त्र के कन्धों पर लादा जायगा । धर्म क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति नव-निर्माण की वास्तविक भूमिका का सम्पादन करेंगे । मानव जाति को असीम पीड़ाओं से उन्मुक्त करने का श्रेय इसी मोर्चे पर लड़ने वालों को मिलेगा । इसलिये युग पुकारता है कि प्रत्येक प्रबुद्ध आत्मा आगे बढ़े । धर्म के वर्तमान स्वरूप को परिष्कृत करें । उस पर लदी हुई अनुपयोगिता की मलीनता को हटाकर स्वच्छता का वातावरण उत्पन्न करें । इसी शस्त्र से प्रस्तुत विभीषिकाओं का अन्त किया जाना संभव है इसीलिये उसे चमकती धार वाला तीक्ष्ण भी रखना ही पड़ेगा । जंग लगे व भैंथरे हथियार अपना वास्तविक प्रयोजन हल कहाँ कर पाते हैं ? धर्म-तन्त्र का आज जो स्वरूप है उससे किसी को कोई आशा नहीं हो सकती है, इसे तो बदलना, पलटना एवं सुधारना अनिवार्य ही होगा ।

सुधरे हुए धर्मतन्त्र का उपयोग सुधरे हुए अन्तःकरण वाले प्रबुद्ध व्यक्ति सुधरे हुए ढंग से करें तो उससे विश्व संकट के हल करने और धरती पर स्वर्ग-नर में नारायण का अवतरण करने का अभीष्ट उद्देश्य पूरा होकर ही रहेगा । सुधरी हुई परिस्थितियों की गंगा का अवतरण करने के लिये आज अनेकों भागीरथों की आवश्यकता है । यह आवश्यकता कौन पूरी करें, युग पुकार के अनुरूप क्या प्रत्युत्तर दिया जाय ? यह हमें निर्णय करना ही होगा और उस निर्णय का आज ही उपयुक्त अवसर है ।

विभूतियों का आह्वान

समय की पुकार पर विशिष्ट तथा चेतना सम्पन्न व्यक्ति कुछ कर गुजरने के लिये खड़े हुए हैं, उन्हीं का संगठित रूप युग निर्माण परिवार के नाम से जाना जाता है । जैसे-जैसे कार्य का विस्तार होता है, वैसे-वैसे उसके लिये अधिक व्यापक व्यवस्था करनी पड़ती है । नव निर्माण के कार्य के लिये भी अब विभूति सम्पन्न व्यक्तियों को विशेष भूमिका में उतारना होगा ।

यों सभी मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं पर जिनमें विशेष विभूतियाँ चमकती हैं, उन्हें ईश्वर के विशेष अंश की सम्पदा से सम्पन्न जानना चाहिये । गीता के विभूति योग अध्याय में भगवान कृष्ण ने विशिष्ट विभूतियों में अपना विशेष अंश होने की बात उदाहरणों समेत बताई है । यों जीवनयापन तो अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी करते हैं, पर जिनके पास विशेष शक्तियाँ-विभूतियाँ हैं, कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य वे ही कर पाते हैं । इसलिये भावनात्मक नव-निर्माण जैसे युगान्तकारी अभियानों में उनका विशेष हाथ रहना आवश्यक है ।

कार्य बढ़ाने के लिये प्रयास करने के साथ बढ़े हुए कार्य को व्यवस्थित और सुनियोजित ढंग से चलाना भी आवश्यक है । उसके लिये विभूतिवान व्यक्तियों की आस्थायें जागृत करके उनकी विभूतियों को इस दिशा में लगाया जाना है । ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिये उपयोग में लाया जाना ही विभूतियों को सार्थक बनाना है ।

वस्तुतः विभूतियाँ होती ही इसीलिये हैं । विभूतियाँ ईश्वर प्रदत्त होती हैं, व्यक्तियों को वह सौंप तो दी जाती हैं । परन्तु मात्र धरोहर के रूप में उनका मन चाहा प्रयोग किया जाना अनैतिक भी है तथा उनकी पात्रता को खो देने की भूमिका भी । जिस के लिये जो वस्तु दी जाये उसमें उसका उपयोग न किया जा सके तो उसे छीन भी लिया जाना

अस्वाभाविक नहीं । विभूतियों की आवश्यकता युग परिवर्तन जैसे महत्वपूर्ण कार्य के लिये है । तो उन्हें उसके लिये लगना ही होगा । महाकाल के संकेत की अवहेलना की नहीं जा सकती । इसीलिये जिनके पास विभूतियाँ हैं–उन्हें सचेत करना, झकझोरना भी आवश्यक है । युग निर्माण योजना द्वारा यह कार्य भी किया जा रहा है । हर समझदार व्यक्ति को चाहिये कि वह विभूतिवानों को संकेत करें तथा समयानुकूल दिशा उन्हें दिखायें । जिन सात विभूतियों को झकझोरने का, सन्मार्गगामी बनाने का कार्य किया जाना है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

विभूतियों को सात भागों में विभक्त कर सकते हैं । (१) भावना (२) शिक्षा–साहित्य (३) कला (४) सत्ता (५) सम्पदा (६) भौतिकी (७) प्रतिभा । इन सातों के सदुपयोग से ही व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है ।

युग निर्माण आन्दोलन का प्रथम प्रयास जन जागरण था अब अगला कदम विभूतियों को भी झकझोरना है और उन्हें उलझी हुई स्थिति से निकाल कर जीवन अथवा मरण में से एक को चुन लेने के लिये विवश करना है । अब तक यह अभियान भारत तक–विशेषतया हिन्दू वर्ग के प्रगतिशील वर्ग तक सीमित रहा है अब इसकी परिधि विश्वव्यापी बनाई जा रही है । प्रथम चरण में मजबूती आ जाने पर यह दूसरा चरण उठाया जाना आवश्यक भी है ।

१–भावना (धर्म एवं अध्यात्म)

व्यक्तित्व को उत्कृष्ट और गतिविधियों को आदर्श बनाने की अन्तः प्रेरणा को भावना कहा जाता है । धर्म धारणा और अध्यात्म साधना के समस्त कलेवर को इसी प्रयोजन के लिये खड़ा किया गया है । युग निर्माण योजना ने बताया है कि चरित्र गठन का नाम धर्म और अपनी क्षमताओं को लोक मंगल के लिये समर्पित करने की पृष्ठिभूमि का नाम अध्यात्म है । भावनाओं को कल्पना लोक में नहीं उड़ते रहना चाहिये वरन् उन्हें अपने तथा समाज के समग्र निर्माण में संलग्न होना चाहिये । यही उनका वास्तविक प्रयोजन है भी ।

धर्म की प्राचीनता और दार्शनिकता से प्रभावित लोगों को कहा जा रहा है कि अपने सम्प्रदाय की संख्या बढ़ाने–धर्म परिवर्तन के अति उत्साह में शक्तियों का अपव्यय न करें । हमारा सतत प्रयास है–सब धर्मों में परस्पर सहिष्णुता और समन्वय की प्रवृत्ति उत्पन्न करना । वे अपने स्वरूप को भले ही बनाये रहें पर विश्व धर्म के घटक बनकर रहें और अपने प्रभाव को चरित्रगठन एवं परमार्थ प्रयोजन में ही नियोजित करें । प्रथा परम्पराओं वाले कलेवर को गौण समझें । सभी धर्म सम्प्रदाय अपनी परम्पराओं में से उत्कृष्ट अंश अपनाकर–विश्व एकता के उत्कृष्ट मानवता और आदर्श समाज रचना के लक्ष्य को लेकर आगे बढें और एक ही केन्द्र पर केन्द्रित हों । धर्मों के जिवित रहने का, अपनी उपयोगिता बनाये रहने का, मात्र यही तरीका है ।

धर्म और अध्यात्म क्षेत्र में लगी प्रचुर पूँजी, जन शक्ति और प्रभावशीलता को भविष्य में निहित स्वार्थों के पोषण के लिये प्रयुक्त नहीं होते रहने देना चाहिये । राज तन्त्र में उसकी शक्ति सृजनात्मक दिशा में लगनी चाहिये भावनाशील लोग–न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट रहकर अपनी भौतिक एवं आत्मिक क्षमताओं का उपयोग मानव जाति के लिये समर्पित कर दें तो निस्संदेह सर्वोत्तम युग साधना होगी और उसका सत्परिणाम प्रत्यक्ष परिलक्षित होगा ।

(२) शिक्षा एवं साहित्य

व्यक्ति की समस्त गरिमा उसकी मनःस्थिति पर, विचार प्रक्रिया पर निर्भर है । इस जीवन प्राण के मर्म स्थल को शिक्षा एवं साहित्य के माध्यम से ही परिष्कृत बनाया जा सकता है । व्यक्ति और समाज के निर्माण में शिक्षा और साहित्य की महत्ता सर्वविदित है । युग परिवर्तन की इन घड़ियों में दोनों माध्यमों का समुचित उपयोग किया जाना चाहिये ।

सरकारों को अपने ढंग से काम करने देना चाहिये । वर्तमान वातावरण में उनके लिये यह कठिन ही है । नये युग के अनुरूप मस्तिष्क ढालने वाली शिक्षा पद्धति के बारे में सही ढंग से कुछ सोच सकें और वैसा

ही कुछ सही कदम उठा सकें । सरकारें भौतिक जानकारियाँ देने वाली जो शिक्षा प्रक्रिया चला रही है उससे लाभ उठाना चाहिये, किन्तु भाव परिष्कारकी पूरक, धर्म शिक्षा, नैतिक शिक्षा, भावनात्मक नव निर्माण की शिक्षा पद्धति का संचालन जनता स्तर पर होना चाहिये । प्रौढ़ शिक्षा का कार्य भी जनता को ही अपने हाथ में लेना चाहिये । ये सरकारी स्तर पर नहीं जन स्तर पर ही हल हो सकती हैं । विवाहित महिलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध सरकारी विद्यालय कर सकेंगे यह आशा रखना व्यर्थ है । दृष्टिकोण परिष्कार, आज की परिस्थितियों में चरित्र निर्माण का व्यवस्थित पथ समाज संरचना की अगणित समस्यायें और हल, विश्व परिवार के लिये बाध्य करने वाले प्रचण्ड वातावरण का निर्माण, यह सब प्रयोजन जन स्तर के विद्यालय ही पूरा कर सकेंगे । पूरे या अधूरे समय के लिये जनता अपनी रोटी, कपड़ा, दवा, मनोरंजन आदि का खर्च स्वयं उठाती है, इसके लिये सरकार से अनुदान नहीं माँगती तो फिर भावनात्मक नव निर्माण की शिक्षा के लिये सरकार का मुँह ताका जाय इसकी क्या आवश्यकता है ।

हर जगह ऐसे सुशिक्षित भावनाशील लोग मौजूद हैं, जिनके अन्दर परमार्थ के लिये आन्तरिक ज्योति चमकती रहती है । मार्ग न मिलने से वह अवरुद्ध रहती है इन्हें इन विद्यालयों को चलाने के लिये अपना थोड़ा-सा समय अवैतनिक रूप से अनुदान देने के लिये कहा जाय तो अवश्य ही अनेक जागृत आत्मायें आगे आयेंगी और लाखों शिक्षकों की आवश्कयता सहज ही पूरी हो जायगी । ढलती उम्र के लोग वानप्रस्थ परम्परा अपनाकर लोकमंगल के क्षेत्र में उतरने के लिये प्रोत्साहित किये जा सकें तो भी इस दिशा में तत्पर काम हो सकता है ।

लोक शिक्षण की महती आवश्यकता पूरी कर सकने वाले विद्यालय हर गाँव और हर मुहल्ले में स्थापित हो सकते हैं और सफलतापूर्वक चल सकते हैं । अब यह युग धर्म समझा जाना चाहिये और सोचने तक ही सीमित न रहकर इसकी स्थापना और संचालन के लिये कटिबद्ध होना चाहिये । हम अगले दिनों इसकी प्रचण्ड प्रेरणा सर्वत्र भरने के लिये

अपने प्रखर आत्मबल का प्रयोग करने जा रहे हैं । कहना न होगा कि अगले ही दिनों इस संदर्भ में आशाजनक सफलता उत्पन्न होते हम सब अपनी इन्हीं आँखों से प्रत्यक्ष देखेंगे ।

साहित्यकारों से इसी दिशा में लेखनी उठाने के लिये कहा जा रहा है । कवियों से मूर्च्छित जनता को जागृति में परिणत कर सकने वाले अग्नि गीत लिखने के लिये कहा गया है । पत्रकार अपने पत्रों में पत्रिकाओं में इस प्रकार के समाचारों और लेखों को स्थान देना आरम्भ करें, प्रकाशक ऐसी ही पुस्तकें छापें । संसार में लगभग ६०० भाषायें हैं । भारत में ही सरकारी मान्यता प्राप्त १४ भाषायें हैं और इससे कई गुनी संख्या उन भाषाओं की है जिन्हें मान्यता प्राप्त नहीं है । इन सभी भाषाओं में प्रचुर साहित्य लिखा जाना, अनुदित किया जाना, छापा जाना और विक्रय किया जाना आवश्यक है । इस प्रकाशन व्यवसाय के लिये पूँजी और प्रतिभा दोनों की ही आवश्यकता है । मात्र लेखक नहीं, प्रकाशक भी जब इस क्षेत्र में उतरेंगे तो उनके परस्पर सहयोग समन्वय से कुछ काम चलेगा । इस दिशा में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उपयुक्त व्यक्तियों को प्रेरणा दी जानी है, दी भी जा रही है । युग निर्माण योजना ने जो शुभारम्भ मथुरा से किया है वह एक नमूना मात्र है । अभी सैकड़ों धारायें इस क्षेत्र में काम करने के लिये बाकी पड़ी हैं और उन्हें क्रियान्वित किया ही जाना चाहिये ।

(३) कला मंच से भाव स्पन्दन–

कला मंच में चित्र, मूर्तियाँ, नाटक, अभिनय, संगीत आदि आते हैं । संगीत विद्यालय हर जगह खुलें, सरल संगीत के ऐसे पाठ्यक्रम हों जो वर्षों में नहीं महीनों में सीखे जा सकें । प्रचण्ड प्रेरणा भरे गीतों का प्रचलन प्रसारण इन विद्यालयों द्वारा हो और प्रत्येक हर्षोत्सव पर प्रेरक गायनों की ही प्रधानता रहे । अग्नि गीतों की पुस्तिकायें सर्वत्र उपलब्ध रहें । संगीत सम्मेलन, संगीत गोष्ठियाँ, कीर्तन, प्रवचन, सहगान क्रिया गान (ऐक्शन सांग) नाटक, अभिनय, लोक नृत्य जैसे अगणित मंच मण्डप सर्वत्र बनें और वे लोकरंजन की आवश्यकता पूरी करें ।

चित्र प्रकाशन अपने आप में एक बड़ा काम है । कलेण्डर तथा दूसरे चित्र आजकल खूब छपते–बिकते हैं । उनमें प्रेरक प्रसंगों को जोड़ा जा सके तो जनमानस को मोड़ने में भारी सहायता मिल सकती है । आदर्शवादी चित्र प्रकाशन की योजना सामने हो तो चित्रकार उस तरह की तस्वीरें और भी अधिक प्रसन्नतापूर्वक बना देंगे । यह कार्य ऐसे हैं जिनमें प्रतिभा–पूँजी, सूझबूझ और लगन का थोड़ा भी समन्वय हो जाय तो बिना किसी खतरे का सामना किये सहज ही यह आवश्यकता पूरी की जा सकती है ।

पुस्तकालयों की–चल पुस्तकालयों की. झोला पुस्तकालयों की योजना छोटे रूप में अपना परिवार चला भी रहा है । इसे व्यापक और विस्तृत बनाया जाना चाहिये । स्थान–स्थान पर पुस्तकालय खुलने चाहिये । पुस्तक विक्रय के लिये चल पुस्तकालयों को व्यावसायिक रूप मिल सकता है । जब शाक–भाजी तक ठेल–ढकेल पर बेचने वाले हजारों व्यक्ति रोजी–रोटी कमाते हैं तो कोई कारण नहीं कि चल पुस्तकालय से भी हजारों व्यक्ति रोटी न कमाने लगें । पुस्तक विक्रय की दुकान खोलकर भी सत्साहित्य प्रसार का उद्देश्य पूरा होता है । इन्हें आर्थिक आधार पर भी किया जा सकता है । आवश्यकता मार्ग–दर्शन और क्रिया संगठन की है । प्रतिभायें यदि यह साधन जुटाने के लिये निकल पड़े तो न जाने कितना बड़ा काम बौद्धिक क्रान्ति की दिशा में हो सकता है । इसी प्रकार कलामंच को भी व्यावसायिक रूप देकर आगे बढ़ाया जा सकता है ।

यन्त्रीकरण और कला का समन्वय होने से ग्रामोफोन रिकार्ड टेपरिकार्डर तथा फिल्म सिनेमा के नये प्रभावशाली माध्यम सामने आये हैं । उनका सदुपयोग होना चाहिये । चित्र प्रदर्शनियों के उपयुक्त बड़े साइज के चित्र छपने चाहिये । रिकार्ड बनाने का कार्य योजनाबद्ध रूप से आगे बढ़ना चाहिये । यों शुरूआत दस रिकार्डों से की गयी थी, पर अभी उसे सभी भाषाओं के लिये सभी प्रयोजनों के लिये उपयुक्त बनाने में बड़ी शक्ति, पूँजी लगानी पड़ेगी । इस प्रकार फिल्म निर्माण का कार्य हाथ में

लेना होगा । आँकड़े यह बताते हैं कि समाचार पत्र और रेडियो मिलकर जितने लोगों को सन्देश सुनाते हैं उससे कहीं अधिक सन्देश अकेला सिनेमा पहुँचाता है । समाचार पत्रों के पाठकों और रेडियो सुनने वालों की मिली संख्या से भी सिनमा देखने वालों की संख्या अधिक है । यदि यह उद्योग विवेकवान और दूरदर्शी हाथों में हो और वे उसका उपयोग, जन-मानस को परिष्कृत करने तथा नवयुग के अनुरूप बनाने में कर गुजरें तो उसका आश्चर्यजनक परिणाम सामने आ सकता है जिनके हाथ में इन दिनों यह उद्योग है उनका दृष्टिकोण बदला जाय तथा नये लोग, नई पूँजी और नई लगन के साथ इस क्षेत्र में उतरें तो इतना अधिक कार्य हो सकता है, जिसकी कल्पना भी इस समय कठिन है ।

(४) विज्ञान—

विज्ञान की उपलब्धियाँ आश्चर्यजनक हैं उसने मानवी सुख-सुविधाओं में आश्चर्यजनक अभिवृद्धि की है, पर यह भी सही है कि उसके दुरुपयोग से होने वाली हानियाँ भी कम नहीं उठानी पड़ रही हैं । वस्त्रों के उत्पादन में विशेषतया गैसें, किरण एवं अणु विस्फोट जन्य अस्त्रों ने तो अस्तित्व को ही संकट में डालने की विभीषिका उत्पन्न कर दी है यदि यह शोध, आविष्कार, सृजनात्मक प्रयोजनों तक ही सीमित रहे तो उसका प्रतिफल धरती पर स्वर्गीय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है । ध्वंसात्मक उपकरण जुटाने में जितने साधन खपाये जा रहे हैं, यदि उन्हें मानवी अभावों और शोक सन्तापों की निवृत्ति में लगा दिया जाय तो उसका प्रतिफल इस संसार को स्वर्गोपम बनाने में हो सकता है । समुद्र के खारी पानी से मीठा जल प्राप्त किया जा सकता है । जमीन के नीचे बहने वाली विशाल नदियों का जल धरती पर लाया जा सकता है और सारी दुनियाँ सचमुच शश्य-श्यामला बन सकती है । कृषि, पशुपालन, बागवानी, वन सम्पदा, स्वास्थ्य सम्बर्धन और मस्तिष्कीय विकास की दिशा में विज्ञान को अभी बहुत काम करना बाकी है । प्रकृति के प्रकोपों से लोहा लेने के साधन जुटाने में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, भूकम्प,

बाढ़–तूफान, शीत–ताप की असहनीयता का सामना करने योग्य शक्ति का उपार्जन हो सकता है । वाहनों को सरल एवं सस्ता बनाया जा सकता है, संचार साधनों के विस्तार की अभी बहुत गुञ्जायश है ।

सबसे बड़ा काम विज्ञान को यह करना है कि वह अध्यात्म के साथ अपनी संगति बिठाये और सिद्ध करे कि शक्ति स्रोत जड़ पदार्थ की अणुसत्ता एवं ऊर्जा में नहीं वरन् चेतना के संकल्पों में, आत्मबल में सन्निहित है । विशालकाय यन्त्र संस्थानों की तुलना में व्यक्ति का शरीर, मस्तिष्क और अन्तःकरण अधिक सशक्त हैं और उस क्षमता का सदुपयोग करके व्यक्ति को देवोपम और समाज को स्वर्गीय वातावरण से ओत–प्रोत बनाया जा सकना नितान्त सम्भव है । इस सत्य को तथ्य के रूप में प्रस्तुत करना, अभिज्ञान को प्रत्यक्ष बनाना विज्ञान का काम है और यह उसे करना ही चाहिये करना ही होगा । इसके लिये विज्ञान के उच्च क्षेत्र में काम करने वाले विज्ञानियों को आवश्यक प्रेरणा एवं दिशा मिलनी चाहिये । युग की यह माँग है और उसे पूरा करना ही पड़ेगा । पिछले दिनों अखण्ड ज्योति पत्रिका के माध्यम से विज्ञान और अध्यात्म का सम्बन्ध समन्वय प्रतिपादन किया भी जाता रहा है अब उसे और भी अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष करना पड़ेगा ।

(५) शासन तंत्र–

राज सत्ता जिनके हाथ में इन दिनों है अथवा अगले दिनों आने वाली है उन्हें संकीर्ण राष्ट्रीयता के अपने प्रिय क्षेत्र या वर्ग के लोगों को लाभान्वित करने की वात छोड़ कर समस्त विश्व की समान रूप से सुख–शान्ति की बात सोचनी चाहिये और समस्त संसार को एक परिवार की नीति अपनाकर प्रकृति प्रदत्त साधनों एवं मानवी उपार्जन को समान रूप से सर्वसाधारण के लिये उपलब्ध करना होगा । युद्धों की भाषा में सोचना वन्द कर न्याय का आधार स्वीकार करना होगा । वर्ग भेद और वर्ण भेद की जड़ें उखाड़नी होंगी ।

अनीति, शोषण, अपराध, रिश्वत, भ्रष्टाचार के वास्तविक शत्रु से

जूझना सरकारों का काम है बेकारी, बीमारी और गरीबी दूर करने की दिशा में भी वह बहुत कुछ कर सकती है । इसके लिये सत्ता संचालकों और शासकीय कर्मचारियों में बेतरह घुसी हुई स्वार्थपरता एवं अनैतिकता को जड़ मूल से उखाड़ना होगा । इसके लिये प्रजातन्त्री देशों के वोटरों को उनके कर्तव्य विशेष रूप से समझाने होंगे ताकि वे सुयोग्य प्रतिनिधि चुनने और श्रेष्ठ सरकार प्राप्त करने में सफल हो सकें ।

(६) सम्पदा

विभूतियों में इन दिनों सर्वोपरि मान्यता पूँजी को मिली है । धन का वर्चस्व सर्व विदित है । सम्पत्ति में स्वयं कोई दोष नहीं । दोष उसके दुरुपयोग में है । व्यक्तिगत विलासिता में, अहंता की वृद्धि में, यदि उसका उपयोग होता है, संग्रह बढ़ता है एवं उसका लाभ बेटे–पोतों तक ही रखने का प्रयत्न किया जाता है तो निस्संदेह ऐसा धन निन्दनीय है । अगले दिनों आर्थिक समता के आधार पर ही समाज व्यवस्था बनेगी । सामर्थ्य भर श्रम एवं आवश्यकता भर साधन प्राप्त करने के ही क्रम चलें तव सम्पदा पर व्यक्ति का नहीं समाज का अधिकार होगा । समाज में न कोई गरीब दिखाई देगा न अमीर । पर जब तक वह स्थिति नहीं बन जाती तब तक संग्रहीत पूँजी को लोकमंगल के लिये लगाने की दूरदर्शिता दिखाने के लिये धनपतियों को कहा जायेगा । कहा ही नहीं इसके लिये उन्हें प्रभावित भी किया जायेगा । उन्हें यह समझने का, अवसर दिया जायगा कि समय बदल चुका । पूँजीवाद, सामंत वाद, संग्रहवाद, अमीरी के दिन लद गये । अब उस सड़ी लाश से चिपके रहने में केवल घृणा एवं विपत्ति ही हाथ लगेगी ।

इस समय उचित तो यह है कि सम्पत्तिवान लोग इस तथ्य को समझें तथा अपने धन का उपयोग समाज हितैषी कार्यों में करें । समाज का धन समाज को लौटा दें । धन के चिपके रहने में बड़प्पन की मान्यता बदलें और उसे लोक मंगल के पुण्य कार्यों में नियोजित करें । पर अपने धन के प्रति मोह बहुत प्रवल होने के तथ्य को स्वीकार करते हुए भी उसे छोड़ देना हर किसी के लिये संभव नहीं । जिस पर अपना अधिकार समझते

आये हैं उसे दूसरे के अधिकार में दे देना सामान्य रूप से रुचता नहीं। समाज के प्रति अपनापन इतना गहन हो जाये कि उसके कार्य और उसकी आवश्यकतायें अपनी जैसी दिखने लगें तब तो बात ही कुछ और है। फिर तो उसके लिये कुछ भी खर्च कर देना स्वाभाविक है। जब तक अपनेपन की ऐसी स्थिति नहीं आती और पैसे के प्रति मोह भी कम नहीं होता तब तक उसे समाज को सौंप देना हर किसी के लिये सम्भव नहीं।

दान न सही कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि युग परिवर्तन का पथ प्रशस्त करने वाले प्रचारात्मक कार्यक्रमों में पूँजी की कमी न पड़े। भले ही यह व्यवसाय बुद्धि से किया जाय। भले ही अभी व्यक्तिगत लाभ की बात भी जुड़ी रहने दी जाय तो इतना ही होना चाहिये कि युग परिवर्तन के प्रवाह में अनुकूलता उत्पन्न करने वाला विनियोग इस पूँजी का हो सके। पिछले पृष्ठों पर ऐसे कितने ही क्रिया कलापों की चर्चा की गयी है जिनमें पूँजी के रूप में यदि धन लगा सके तो भी बहुत कुछ हो सकता हे। (१) साहित्य प्रकाशन (२) चित्र प्रकाशन (३) अभिनय मण्डलियाँ (४) टेप-रिकार्ड (५) फिल्म निर्माण। यह पाँच कार्य ऐसे हैं जिनके लिये विशालकाय अर्थ संस्थान खड़े किये जाने चाहिये और लोक मानस को परिष्कृत बनाने की आवश्यकता पूरी की जानी चाहिये।

धनवानों को इसके लिये कहा जायगा। साथ ही जनसाधारण के पास यदि थोड़ी सी भी बचत पूँजी हो तो उसे इन लोकोपयोगी कार्यों में लगा देने के लिये कहा जायेगा कहना न होगा कि युग परिवर्तन का प्रवाह दैवी प्रेरणाओं के आधार पर चल रहा है। इसमें सहयोग देने वाले घाटे में नहीं नफे में ही रहेंगे। पूँजी डूबने जैसी आशंका किसी को भी नहीं करनी चाहिये। यह तो सुरक्षित ही रहने वाली है-बैंक आदि से अधिक ब्याज भी मिलने वाला है। साथ ही युग देवता की सेवा-साधना का ऐसा अवसर भी मिलता है जिसके कारण असाधारण आत्म सन्तोष का वरदान भी अनन्त काल तक मिलता रहेगा। जन स्तर पर पूँजी इकट्ठी

करने के लिये सरकारी समितियाँ, लिमिटेड कम्पनियाँ बनाई जा सकती हैं । उनमें पूँजी लगाने के लिये हर भावनाशील व्यक्ति को अपनी संग्रहीत पूँजी लगाने के लिये कहा जा सकता है । अनावश्यक जमीन जायदाद, जेवर, जमा पूँजी, बचत फण्ड आदि के रूप में कितना ही ऐसा पैसा पड़ा रहता है जिसकी साधारणतया कोई विशेष उपयोगिता नहीं होती, पर उपरोक्त आवश्यकता पूरी करने वाले अर्थ संस्थानों में लग जाय तो उससे 'आम के आम, गुठली के दाम' वाली कहावत पूरी हो सकती है । पूँजी तो सुरक्षित रहती है साथ ही साथ कुछ लाभ, ब्याज भी कमाती रहती है । इसके अतिरिक्त युग की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता पूरी करने का जो श्रेय मिलता है उसे तो हर दृष्टि से भूरि-भूरि प्रशंसा के योग्य ही कहा जायगा ।

ऐसा किया जाना कोई कठिन कार्य नहीं । कोई भी समझदार व्यक्ति इसे समझकर उत्साह के साथ आगे आ सकता है । जिस कार्य और उद्देश्य के लिये प्रयास किया जाना है उसके लिये लाभ का लोभ छोड़कर बल्कि थोड़ा-बहुत घाटा उठाकर भी सहयोग करने की इच्छा रखने वाले भावना सम्पन्न व्यक्तियों का देश में अभाव नहीं है । फिर पूँजी की सुरक्षा के साथ-साथ लाभांश की भी सुनिश्चितता होने पर तो व्यवसाय बुद्धि से भी सम्पन्न लोग उसमें उल्लेखनीय सहयोग दे सकते हैं । आवश्यकता केवल इस बात की है कि वस्तु स्थिति उन्हें समझाई जा सके तथा योजना को व्यावहारिक स्वरूप दिया जा सके ।

प्रतिभा एक विशिष्ट और अतिरिक्त विभूति है । कुछ लोगों के व्यक्तित्व ऐसे साहसी, स्फूर्तिवान, सूक्ष्मदर्शी, मिलनसार, क्रिया कुशल और प्रभावशाली होते हैं कि वे जिस काम को भी हाथ में लें, उसी आधार पर गतिशील बनाते चले जाते हैं और सफलता के उच्च शिखर तक पहुँचा देते हैं । इस विशेषता को प्रतिभा कहते हैं । सूझ-बूझ, आत्म विश्वास, कर्मठता, जैसे अनेक सद्गुण उनमें भरे रहते हैं । आमतौर से ऐसे ही लोग महान कार्यों कें संस्थापक एवं संचालक होते हैं । सफलतायें उनके पीछे

छाया की तरह फिरती हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञान होता है कि कठिनाइयों से कैसे निपटा जाता है, उन्हें सरल कैसे बनाया जाता है ।

प्रतिभावान व्यक्ति में चिन्तन को क्रिया में बदल देने की विशेषता होती है । जहाँ सम्भावना नहीं दिखाई दे वहाँ मार्ग खोज निकालने में उन्हें रस आता है । जिन प्रसंगों को कठिनाइयाँ कहकर सामान्य लोग उनसे बचने का प्रयास करते हैं प्रतिभावान की इच्छा उनमें घुसकर कुछ कर दिखाने की होती है । हर कठिन प्रयास को वह अपनी कसौटी का एक सुअवसर मानकर उत्साह पूर्वक उसमें पिल पड़ते हैं ।

योग्यताओं का अधिक से अधिक उपयोग प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति कर लेते हैं । बड़ी योग्यता वाले अन्य व्यक्ति जहाँ किन्तु परन्तु करते हुए सोचते रह जाते हैं वहाँ प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थोड़ी योग्यता का भी प्रयोग चमत्कारी ढंग से करके काम फतह कर दिखाते हैं । यही कारण है कि विश्व का इतिहास प्रतिभावानों का इतिहास कहा जाय तो अनुचित नहीं । किसी भी क्षेत्र में उनकी यह विभूति समान तीव्रता से अपना प्रभाव दिखाती है ।

प्रतिभाशाली व्यक्ति ही सफल सन्त, राजनेता, समाज सेवी, साहित्यकार, कलाकार, व्यवसायी, व्यवस्थापक होते देखे गये हैं । प्रतिभावान ही डाकू, चोर, ठग जैसे दुस्साहस पूर्ण कार्य करते हैं । सेनानायकों के रूप में, लड़ाकू योद्धाओं के रूप में उन्हें ही अग्रिम पंक्ति में खड़ा देखा जाता है । क्रान्तिकारी भी इसी स्तर के लोग बनते हैं । युग निर्माण अभियान के हर पक्ष को प्रकाशवान बनाने के लिये ऐसे ही लोग चाहिये । प्रतिभाशाली तत्व जहाँ कहीं भी चमक रहे हों वहाँ से उन्हें आमन्त्रित किया जा रहा है कि वे अपने ईश्वरीय अनुदान को निरर्थक विडम्बनाओं में खर्च न करें वरन् उसे नव निर्माण के ऐसे महान प्रयोजन में निरत कर दें, जिससे समस्त संसार का हित साधन हो सके ।

सातों विभूतियों के क्षेत्र में संसार की करोड़ों प्रतिभायें आती हैं, उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करने का कार्य साधारण नहीं असाधारण

है, पर इतना महत्त्वपूर्ण कि उसे किये बिना लक्ष्य प्राप्ति के लिये और कोई मार्ग नहीं, जन साधारण को उठाने का कार्य आरम्भ से ही चल रहा है और अन्त तक चलता रहेगा, पर उतना ही पर्याप्त नहीं । युग परिवर्तन जैसे बड़े कार्यों के उत्तरदायित्व और भार सामर्थ्य सम्पन्न लोग ही संभाल सकते हैं । युग निर्माण योजना की विचारधारा और क्रिया पद्धति विभूति सम्पन्न लोगों तक पहुँचाई जानी चाहिये । खोज–खोजकर उन्हें प्रभावित किया जाना चाहिये । तथ्यों का प्रस्तुती करण ठीक ढंग से किया जाय तो महाकाल का आह्वान वह भली प्रकार समझ सकते हैं और अपना समर्थ योगदान देकर कार्य की प्रगति में कई गुनी गति ला सकते हैं ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा